महाप्रस्थान के पथ पर

मूल लेखक—श्री प्रबोधकुमार सान्याल

अनुवादक—हरिकृष्ण त्रिवेदी

सरस्वती प्रेस

बनारस

प्रथम संस्करण १०००
दिसम्बर, १९४१
द्वितीय संस्करण २०००
फरवरी, १९४६

— श्री० रवीन्द्रनाथ ठाकुर —

…तुम्हारा यात्रा-वर्णन शास्त्रिक-पथ से नहीं चलता, भौगोलिक-पथ पर नहीं चलता, वह चलता है मनुष्य-पथ पर। कितनी शताब्दियों से दुःसाध्य साधनरत मनुष्य का दुर्गम यात्रा का प्रयास अटूट चला आ रहा है—यह तीर्थयात्रा उसी का प्रतीक है। कभी तुम भी उसी के आकर्षण से चले थे…ये नाना प्रदेशों के हैं, नाना धर्मों के हैं, ये बहुत विचित्र हैं, किन्तु फिर भी एक हैं—इनके साथ-साथ चलते हैं सुख और दुःख, आशा और आशङ्का, जीवन और मृत्यु का घात-संघात—इसी युग-युगान्तर-पथ के पथिक मानव-चित्त ने अपनी अश्रान्त उत्सुकता के स्पर्श का संचार किया है तुम्हारे वर्णन में—उसका कौतुक और कौतूहल पाठक को स्थिर नहीं रहने देता।

मुद्रक और प्रकाशक :
श्रीपतराय, सरस्वती-प्रेस,
बनारस कैंट

महाप्रस्थान के पथ पर

उपक्रमणिका

मन का आदमी दुनिया में मिला नहीं, आदमी का मन इसी से संगीहीन है। असल में हम सब अकेले हैं। मनुष्य का मनुष्य के साथ मिलन होता है बाहरी प्रयोजन के लिए, बन्धुत्व के प्रयोजन के लिए, सृष्टि के प्रयोजन के लिए, स्वार्थ के प्रयोजन के लिए।

उस दिन कम्बल, झोला, लोटा और लाठी लेकर जब एकदम अकेले हिमालय की यात्रा के उद्देश्य के लिए तैयार हुआ, कोई संगी नहीं मिला, उस दिन किसी के ऊपर अभिमान नहीं किया, निरासक्त निर्लिप्त मनुष्य निरुद्देश्य होकर चला।

वैशाख के प्रारम्भ की चिता चारों ओर जल रही है, समग्र आर्यावर्त्त सूर्यदेव के अभिशाप की अग्निवृष्टि से गतिहीन हो गया है, मैदान धू-धू कर रहा है, सारा आकाश बादलों के लिए आकुल है। ऐसे दिन काशी से हरिद्वार की ओर चला। जब हम स्थिर, सीमाबद्ध, कूप-मंडूक, नगर-सभ्यता के जुए को कन्धे पर लेकर, आँखों पर पट्टी बाँधकर घूमते हैं, तब हम यह नहीं समझ पाते कि इसके बाहर बृहत्तर जगत् है, उदार जीवन है; प्रतिदिन की लाभ-क्षति तथा संकीर्ण जीवन की तुच्छता-क्षुद्रता के पीछे एक परम आह्वान है, इस बात को हम भूल जाते हैं। चारों ओर जिस तरह झाड़-झंखाड़ जमता है, उसी तरह मनुष्य भी जुटते हैं; लेकिन जिस दिन पथ की पुकार सुनाई देती है, जिस दिन दूर की विकल बंशी बजती है, उस दिन सब छोड़-छाड़कर अकेले-अकेले ही चलना पड़ता है, उस समय और अपेक्षा नहीं, पीछे देखना नहीं।

फ़ैजाबाद पार हुआ, पार हुआ लखनऊ, पीछे रह गई बरेली, गाड़ी भागी जा रही थी। मेरी इस यात्रा के पथ में कोई पद्धति नहीं थी, आयोजन नहीं था, यह जिस तरह विशृङ्खल थी उसी प्रकार

आकस्मिक भी थी। शेष रात्रि में लक्सर पार कर जब हरिद्वार आकर पहुँचा, उस समय देखा कि यह बिलकुल ही नया राज्य है! ठंढी हवा से सारा शरीर काँप गया है, इतना ठंढा है कि हाथ-पाँव ठिठुर जाते हैं; गरमी से मुक्ति पाकर आनन्द हुआ, शरीर में आया उत्साह और मिली गति की चंचलता। शेष रात्रि का अन्धकार, सिर के ऊपर नक्षत्र-खचित काला आकाश, आस-पास में कृष्णकाय प्रहरियों की तरह पहाड़ों की श्रेणियाँ, मधुर शीतल वायु—इन सबके बीच में होकर मार्ग को खोजता-खोजता धर्मशाला की ओर चला।

हिमालय के जितने प्रवेश-पथ हैं उनमें हरिद्वार सर्वश्रेष्ठ और सुगम है। यहाँ केवल तीन ऋतुएँ होती हैं—वर्षा, शीत और वसन्त। निकट में ही गंगा की कलस्वनी तथा उपल-मुखरा नील धारा है। नदी के किनारे-किनारे संन्यासियों के अड्डे और आसन हैं, धूनी जल रही है, गाँजा पिया जा रहा है; वेद, गीता और तुलसीदास की आलोचना हो रही है। ब्रह्मकुण्ड में स्नान, कुशावर्त में श्राद्ध और तर्पण—कहीं भी चंचलता नहीं, जीवन-संग्राम नहीं; निर्विवाद और निर्लिप्त। इस समय यात्रियों की बहुत भीड़ है, सबका ही पथ बदरीनारायण की ओर है, आँखों और मुख से उत्साह टपक रहा है, सब यात्रा के आयोजन में व्यस्त हैं, उनके साथ ही पंडों तथा कुलियों की कच-कच हो रही है। छोटा शहर, छोटा बाजार—बाजार में शीतकालीन अनाज तथा तरकारी को भिन्न-भिन्न कतारों में सजाया गया है—उस तरफ भोलागिरि की धर्मशाला और आश्रम है। आश्रम में बंगालियों के ही कर्तृत्व तथा उनकी प्रतिपत्ति की ही प्रधानता है। सभी गृह-विरागी, गेरुआधारी तथा सिर मुँड़ाये हुए हैं—कई भद्र और सम्भ्रान्त परिवारों की सन्तान हैं, कहीं भी वे आत्म-परिचय नहीं देते, देने की बात भी नहीं, गंगा के किनारे इस आश्रम में, तपस्या में वे अपने जीवन को उत्सर्ग किये हुए हैं। सुनने में आया कि इस मनोरम निभृत योगाश्रम में भी मनुष्य के छोटे-मोटे झगड़े चलते रहते हैं और संशय तथा विद्वेष बीच-बीच में संयम तथा तपस्या का आवरण हटाकर, अपना सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं। तीर्थ-यात्रियों के सिवा अनेक यहाँ स्वास्थ्य-सुधार के लिए भी आये हैं।

समुद्र के किनारे पथ खो जाने पर मनुष्य जिस तरह निरुपाय होकर उसकी ओर देखता रह जाता है, हिमालय के किनारे खड़े होकर मैंने भी उसी प्रकार दूर निशा की ओर एक बार देखा। लक्ष्यहीन,

निरुद्दिष्ट पर्वत श्रेणियाँ, इनका आरम्भ कहाँ से होता है और अन्त कहाँ होता है—यह सब समझने का कोई उपाय नहीं है; बद्रीनाथ किस दिशा की ओर है?—केवल मेघों के पार मेघ, पहाड़ों के पार पहाड़—उत्तुङ्ग, कठिन और निर्दय। वास्तव में मैं 'नर्वस', भयचकित तथा आरामप्रिय हूँ, दुस्साहस है, किन्तु साथ ही साध्य नहीं—इस बात को इस तरह मैं आगे नहीं समझ सका। मन में ख़याल आया—अभी भी समय है, वापस हो जाऊँ किंवा किसी आश्रम में छिपकर दो महीने बाद स्वदेश को वापस लौटकर कह दूँगा कि घूमकर आ गया! इसी बीच में सिरे पर लोहे से मढ़ी हुई एक लाठी खरीदी, क्रेपसोल कैनवेस के जूते ख़रीदे। ईसबगोल, मिश्री, भोजन के मसाले, हड़-बहेड़ा, आँवला, और आमाशय की औषधियों से कन्धे का झोला भारी हो गया, यात्रियों के पास से मुक्त रूप में उत्साह और उद्दीपन मिल रहा है, कितना भय, कितनी दुश्चिन्ता और कितनी सान्त्वना है। क्या करूँ, पथ की विपत्तियों और कष्टों की कथा सुनकर छाती पर साँप लोटने लगता है, कैसे वापस जाऊँ, देश से यदि एक विपद्सूचक जरूरी तार आ जावे तो बच जाऊँ, इससे तो जेल जाना अच्छा था; एक बार मन में भी आया कि मार्ग के किनारे खड़े होकर दो बार 'वन्देमातरम्' ही बोल दूँ जिससे गिरफ्तार हो जाऊँ—किन्तु मुख में और आवाज ही नहीं, कण्ठ में शक्ति नहीं, हृदय में साहस नहीं, केवल निरुपाय पश्चात्ताप से दूर रेलवे लाइन की ओर एक बार देखा।

नहीं, लौट पड़ने का अब उपाय नहीं है। संगी नहीं, बन्धु नहीं, परिचित भी कोई नहीं। यात्रियों में से प्रायः सभी संसार से सम्पर्क छोड़कर आये हैं, शायद वापस लौटने की आशा ही वे नहीं करते, इन्तजाम पूरा हो चुका है, उनकी दृष्टि में जीवन का मूल्य और कुछ नहीं, पैरों से, बराबर चलकर देहक्षय करके, एक दिन अन्तिम रूप से वे शय्याशायी होंगे! इसी धर्मशाला से शीघ्र बंगाली यात्रियों का एक दल बद्रीनाथ को चलनेवाला है। दल के साथ केवल एक पुरुष है और सभी वृद्धा तथा प्रौढ़ा हैं। स्त्रियों में पुण्यकामना और तीर्थ-यात्रा का आग्रह पुरुषों की अपेक्षा अधिक होता है—शायद इसके पीछे एक तत्त्व है, किन्तु इस बात को यहीं रहने दीजिए। दल के साथ चलनेवाले पुरुष का नाम ज्ञानानन्द स्वामी था; वह ब्रह्मचारी था और उसका सिर घुटा हुआ था; जाति से बंगाली, उम्र में युवक, भद्र एवं शिक्षित, सिर पर गेरुआ रंग की रेशम की पगड़ी, पाँवों में मोजे और जूते, देह

पर कुर्ता, चादर, गंजी गेरुए से ही रंगे थे---ऐसा जान पड़ता था कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है। उसके साथ में उसकी माता थी और साथ में चलनेवाली करीब बीस स्त्रियाँ। सहज ही में बातचीत होने लगी। स्वामीजी बोले—आपके जाने का तो कोई कारण नहीं है! यह दुर्गम पथ.. कितनी विपत्ति...आप घर को लौट जाइए।

मैंने कहा—यह क्या, वापस चला जाऊँ? मैंने भी तो गेरुए से कपड़े व चादर रँग लिये हैं, स्वामीजी!

स्वामीजी मुख की ओर ताककर, मानों कुछ देखकर हँसे। बोले—संन्यास ले रहे हैं! वह तो आपके लिए नहीं है! मैं समझता हूँ कि आपका वापस लौट जाना ही अच्छा है, यह बड़ा कठिन पथ है। इसके सिवा गेरुए वस्त्र धारण करने से ही तो...संन्यासी होने के लिए तो उसका मन्त्र है, शोधन है, नाना क्रिया-कलाप...आपके कारण हम बदनाम होते हैं, लोग हमपर विश्वास करना नहीं चाहते!

और दो-चार बातों का उपदेश देकर वे चले गये। उनको यह नहीं जतला सका कि मैं सारे रास्ते आगे चलते-चलते हुए भी पीछे रह जाने की ही चेष्टा कर रहा हूँ।

दो दिन तक पथ में, बाजार में, नदी के किनारे तथा मन्दिर-मन्दिर में घूमता रहा। मन की बात किसको बतलाऊँ?

बाहर उत्साह प्रकट कर रहा हूँ, जाने का आयोजन कर रहा हूँ, किन्तु भीतर ही भीतर मेरी जरा भी इच्छा नहीं—इस बात पर आज कौन विश्वास करेगा? हाय, तब भी जाना होगा मुझको, बिना देखे बद्रीनाथ के दिन नहीं कट सकते, उन्हें मेरी बड़ी लालसा है!

तीसरे दिन अपराह्न में यात्रा; जिनके साथ धर्मशाला में रहने से थोड़ा परिचय हुआ था उनसे म्लान हँसी के साथ विदा ली। धर्मशाला का मैनेजर एक बंगाली छोकरा था, नाम—चाटुर्ज्ये गाने-बजाने, अच्छे व्यवहार और अपनी मीठी बोली से उसने सब यात्रियों को मुग्ध कर लिया था। उसने सकरुण आँखों से विदा दी। पथ में उतर आया। कन्धे पर एक तरफ़ रस्सी से कम्बल बँधा था, और एक तरफ़ झोला, हाथ में लाठी और रस्सी से बँधा लोटा, पाँवों में कैनवेस के नये जूते। आँखों में शून्य दृष्टि, हृदय में अवसन्नता, आत्मग्लानि, प्राणों में भय, देह में निरुत्साह, इसी तरह रास्ते पर चला। बाजार पार कर बड़े रास्ते के ऊपर आया, हृषीकेश तक मोटर बस पाई जाती है। गला सूख गया था, एक गिलास भर शर्बत पीकर गाड़ी में बैठ गया।

भाड़ा दस आने है और रास्ता पन्द्रह मील का। जाने कौन पीछे से ठेल रहा है।

देखते-देखते बेला हो गई। पहाड़ों के पदतल से माथे की ओर सूर्य उठा, एक-एक करके हृषीकेश के यात्री गाड़ी में चढ़कर बैठ गये। कितनी भीड़ और कितना कोलाहल। माथे पर पगड़ी बाँधे हुए, खुरदुरी दाढ़ी और मूँछवाला एक साधु आ पहुँचा। उसकी उम्र को कम समझकर और उसके पास भी झोला, कम्बल, व लोटा देखकर साहस करके करुण कण्ठ से मैंने कहा—आप कहाँ जायँगे साधूजी ?

मुख की ओर देखकर वह हँसे। गाड़ी उसी समय छूटी। उनकी हँसी संन्यासी की स्वर्गीय हँसी नहीं थी, बन्धु-भावपूर्ण हँसी थी। बोले—बद्रीनारायण को। ओ३म् नमो नारायण !

चुप होकर मुँह फेरकर बैठ रहा। थोड़ी खुशी हुई, एक संगी मिला ! किन्तु इस खुशी को जाहिर करना दुर्बलता का परिचय देना था। कुछ मिनट बाद, झोली के भीतर से दो पान बाहर निकालकर, हाथ बढ़ाकर साधुजी स्मित हास्य से बोले, 'लीजिए महाराज, खाइए।' ऐसा कहकर उन्होंने दूसरे हाथ से बीड़ी बाहर निकाली।

उनके मुख की ओर मैंने अपना मुख उठाकर देखा। वह फिर हँसे। हँसकर परिष्कृत बँगला में बोले, 'कहाँ से आ रहे हैं ?' हँसकर मैंने कहा—अभी तक नहीं पहचान पाया, आप बंगाली हैं ?

'हाँ, आप बद्रीनाथ जा रहे हैं ?'

'हाँ।'

चलती हुई गाड़ी में बातचीत होने लगी। उनका नाम पागल भोला ब्रह्मचारी था; ब्रह्मचारी ही उनको प्रायः बोला जाता था। बहुत दिन हुए जब उन्होंने संन्यास लिया था, परिव्राजक बनकर बहुत देशों का पर्यटन किया है। संसार में क्या है और क्या नहीं, उसका कुछ हिसाब नहीं रखा है, रखने का प्रयोजन भी नहीं है। 'भगवद्‌गीता उनको कंठस्थ है—संसार माया है, कर्म-त्याग ही मुक्ति है, भगवान के प्रति पूर्ण विश्वास और परिपूर्ण आत्मदान छोड़कर मनुष्य की गति नहीं, जीवन तुच्छ है, मोक्ष-लाभ ही परम लक्ष्य है। भक्ति से भरी उनकी वाणी सुनी। बीड़ी पीते-पीते वह बातचीत कर रहे थे। वास्तव में जीवन में यही प्रथम सत्संग पाया।

गंगा के किनारे-किनारे गाड़ी चल रही है, कहीं-कहीं ऊँचा-नीचा पहाड़ी रास्ता है, बीच-बीच में पत्थरों के टुकड़े पड़े हैं, छोटे-छोटे झरने

हैं, कहीं-कहीं संन्यासियों के अड्डे हैं, छोटे-छोटे देवालय हैं, गंगा के उस पार पहाड़ हैं, नीचे पमूल के घने जंगल हैं। गाड़ी तेज चली जा रही है। बाँई ओर रेल की लाइन देहरादून की ओर गई है, छोटे-छोटे स्टेशन मिल रहे हैं जो जन-शून्य से हैं, दक्षिण में हृषीकेश की ओर रास्ता गया है। रास्ते में जाते समय भीमगोड़ा चट्टी मिली। यहाँ एक गुफा है, पूर्वकाल में भीम के अश्वक्षुराघात से इसपर भारी चोट पड़ी थी। उसके बाद सत्यनारायण का मन्दिर मिला। मन्दिर के पास काली कम्बलीवाले की सदाव्रत चट्टी है। जो चिह्नित साधु-संन्यासी हैं, वे मुफ्त में यहाँ आहार और आश्रय पाते हैं। गाड़ी कई मिनट के लिए रुकी तो ब्रह्मचारी उतरकर मन्दिर का दर्शन कर आये। देव, द्विज और संन्यासी में उनकी अविचलित भक्ति थी!

दिन का अवसान हो गया है, पश्चिम दिशा की लाल रेखा इस बीच में म्लान हो चुकी है, वन की छाया और पर्वतों के अन्धकार में झिल्ली-रव जाग उठा है, गाड़ी हृषीकेश की एक धर्मशाला के निकट आकर रुक गई। सब उतर गये। इस समय थोड़ा निर्भय हो गया। पास ही में काली कम्बलीवाले की विराट धर्मशाला है, यहीं उनका प्रधान कार्यालय है। यह कम्बलीवाले एक साधु थे। अख्यात और नगण्य रूप में यह साधु बद्रीनाथ गये थे, संबल था केवल एक काला कम्बल। रास्ते में बहुत दुःख-कष्ट मिला था, उपवास में दिन काटे थे, क्योंकि दरिद्र यात्रियों के पास से दरिद्र साधु को भिक्षा भी नहीं जुट पाती थी; किन्तु इसी महापुरुष ने, एक दिन अपने परिश्रम और अपनी चेष्टा से, हृदय के एकान्तिक आग्रह से देश-देश में भिक्षा संग्रह कर निरुपाय साधु-संन्यासियों के दुःख को दूर किया। उनकी कृपा ही से इस समय रास्ते में स्थान-स्थान पर सदाव्रत की व्यवस्था हुई है। आज वह इस संसार में कहीं नहीं हैं, किन्तु असंख्य निःसंबल संन्यासियों का नतमस्तक प्रणाम निरन्तर उनके चरणों में पहुँचता रहेगा।

ब्रह्मचारी बोले—मुझे भी तो सदाव्रत लेना होगा दादा! गरीब प्राणी हूँ, इसी आशा से तो आया हूँ। आप दया करके मेरी ओर से प्रार्थना कर दीजिए।

भीतर भीड़ थी, कोलाहल था; उसी को पार करता हुआ गद्दी के पास जाकर खड़ा हुआ। हिसाब-पत्र लेकर गद्दी का मैनेजर और क्लर्क बैठे हैं। आस-पास में प्रायः पचीस-तीस साधु-भिक्षुक हाथ जोड़कर करुण नेत्रों से खड़े हैं। कोई-कोई प्रार्थना अस्वीकृत हो जाने पर अपनी-

अपनी अवस्था का वर्णन कर निवेदन कर रहे हैं, कोई बद्रीनारायण की शपथ लेकर कह रहे हैं कि वे वास्तव में संन्यासी ही हैं, दूसरे के मत्थे खाने-पीने का खर्च मढ़कर भ्रमण का शौक लेकर वे नहीं आये हैं, वे तो वास्तव में नितांत निरुपाय तीर्थ-यात्री हैं। यह सब दृश्य देखकर ब्रह्मचारी का मुँह सूख गया और जब उसने सचमुच ही यह सुना कि वह भी सदाव्रत का टिकट नहीं पा सकेगा, उस समय उसने वहीं पड़े-पड़े कहा—क्या होगा दादा, मैं तो बहुत आशा करके...मैंने तो यह सुना था कि जो आता है वही टिकट पाता है!

इस बात को वह नहीं जानता था कि पृथ्वी में इतनी बड़ी दान-शीलता कहीं भी नहीं है। दान के सम्बन्ध में इतनी कड़ाई होने से ही तो दान का इतना मूल्य है!

अतएव निराश होकर ब्रह्मचारी को लौटना पड़ा, उसका चेहरा देखकर डर लगने लगा, रास्ते में जो आनन्द और उत्साह उसमें था, वह बिलकुल मिट गया, कण्ठ हो गया रुद्ध, सर्वहारा की तरह हताश—म्लान आँखों से देखकर वह बोला—तो लौट जाऊँ...सामान्य पाँच-सात रुपये लेकर इतने दिनों का रास्ता...तब तो लौट ही जाऊँ!

मन में बहुत बुरा लगा। मैंने कहा—लौट जाने के सिवा उपाय ही क्या है, सत्य ही तो है कि और उपवास किये रास्ता नहीं पार किया जा सकता।

परमुखापेक्षी का चेहरा ही ऐसा होता है। जब वह आशा से प्रज्वलित होता है तब तो दावानल बन जाता है और जब बुझता है, एकदम राख का ढेर। ब्रह्मचारी जिस समय बिलकुल बालक की तरह संग-संग चलने लगा, उस समय मैंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि भगवान् में उसका पूर्ण विश्वास शिथिल हो गया है। सदाव्रत न मिलने पर उसकी दरिद्रता का सत्य रूप मेरी आँखों के आगे विषम रूप से प्रकट हो गया।

नीलधारा के किनारे आकर बैठ गया। अन्धकारपूर्ण नदी, तरंग-संकुल जल के ऊपर नक्षत्रों का प्रकाश चमक रहा है, भयंकर और रहस्यमय, पर्वत के गम्भीर गह्वर से काला जल वन्य-जन्तु की भाँति चीत्कार करके चला आ रहा है, जल-प्रवाह के अविश्रान्त शब्द से चारों दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। किनारे पर, बहुत दूर तक कहीं-कहीं, धूनी जलाकर संन्यासी आसन डाले हुए हैं। एक निरुद्वेग, निबिड़ प्रशान्ति है। तपस्या के लिए निश्चय ही उपयुक्त स्थान है।

एक बड़े पत्थर के ऊपर हम दो आदमी चुपचाप बैठे थे। पत्थर के ऊपर से जल बाहर फूट रहा है। अकेला ही जाऊँगा, उसको लौटना ही होगा, किन्तु क्या कहकर सान्त्वना दूँ, यही सोच रहा था। बात यह है कि इस क्षेत्र में सब सान्त्वना ही उपहास की तरह सुनाई देती! मेरी इस समस्या का उसने ही खुद समाधान कर लिया। अन्धकार में उसने अपनी चिन्तित दो आँखों को ऊपर उठाकर मेरा एक हाथ पकड़कर कहा—दादा, इतना परिश्रम मेरा व्यर्थ गया, तब लौटना ही होगा, क्या बोलते हैं ?

मैंने कहा—यही तो सोच रहा हूँ।

वह बोला—मैं अच्छे घर का लड़का हूँ, तब भी आपसे कहते मुझे संकोच नहीं, यदि कभी पा जाऊँ तो आपका ऋण मैं चुका दूँगा। लौटूँगा तो मैं नहीं, रास्ते में जिससे उपवास न करना पड़े, इसी के बारे में आपसे प्रार्थना है। मैं तो अब लौटूँगा नहीं दादा।

'कितने दुःख से आया हूँ, यह आपको क्या बतलाऊँ! छः सौ मील रास्ता चलकर एक दिन हरिद्वार पहुँचा ..साथ में और कोई नहीं था दादा, समझे ? केवल एक आशा थी, मन के अनुकूल एक मठ बनाऊँगा। बहुत दिनों से बद्रीनाथ जाने की इच्छा है, कितने दिनों से बराबर मन में सोच रहा हूँ ...'

शरीर झाड़कर, उठकर, मैंने कहा—चलिए, जो कुछ होना है, होगा। लौटने का काम नहीं, यदि उपवास ही करना पड़ेगा तो दोनों आदमी एक साथ करेंगे। चलिए, रात काटने के लिए एक जगह तो देख लें।

अत्यन्त कृतज्ञता से ब्रह्मचारी ने केवल इतना कहा—चलिए दादा।

अनेक अनुसन्धान एवं सिफारिश के बाद अस्पताल के पास में एक यात्रिशाला में रात बिताने के लिए जगह मिली। यात्रिशाला के दालान में जगह बहुत संकीर्ण थी। अन्धकार में कई गढ़वाली कुली-मजदूरों का एक जमघट बैठा था, श्रद्धा दिखलाते हुए वे हमारे लिए स्थान छोड़कर एक ओर को सरक गये। भीतर देखा तो यात्रियों का एक दल नजर आया। बँगला भाषा में उनकी बातचीत सुनकर घर में घुस पड़े। एक वृद्ध-से व्यक्ति ने अभ्यर्थना करके बैठाया। सारे घर में करीब पन्द्रह स्त्रियाँ इधर-उधर पड़ी हुई थीं।

मैंने पूछा—कहाँ से आ रहे हैं आप लोग ?

'कालीघाट से। आप ?'

'मैं काशी से आ रहा हूँ। यह परिव्राजक हैं।' उन महाशय की बड़ी दाढ़ी थी, गायिनों की तरह सिर पर बाल थे, गेरुआ-वस्त्र पहने थे, शरीर में एक गरम बेल्ट-कोट था, पाँव में पहरेदारों की तरह काली बनात की पट्टियाँ बँधी थीं। छोटी एक चिलम में तम्बाकू भरा हुआ था।

उन्होंने पूछा—आप?

मैंने कहा—ब्राह्मण, आहा हा, क्या करेंगे? मैं उम्र में बहुत छोटा हूँ!

'इससे क्या, ब्राह्मण-सन्तान तो हो,' यह कहकर उन्होंने जबर्दस्ती मेरे पाँवों की धूल माथे पर रख ली। बोले, 'बुड्ढा आदमी हूँ, इतने बाल-बच्चों को लेकर इस दुर्गम पथ पर, जरा दया कर देखिए तो। मार्ग के संगी!' झोली से उन्होंने दो बीड़ी हम लोगों के लिए बाहर निकालीं।

उनके साथ बातचीत करके फिर बाहर आया। प्रकाश जलाने का उपाय नहीं था। अन्धकार में कम्बल फैलाकर दोनों जने पास-पास सो रहे। ब्रह्मचारी जंभाई लेकर अपने अभ्यासानुसार बोल उठा, 'ओऽम् नमो नारायण! ओऽम् तत्सत्!'

मैंने कहा—हम तो कोई रास्ता पहिचानते नहीं, किस दिशा की ओर जायेंगे?

'एक ही रास्ता है, दूसरा नहीं। पूर्ण विश्वास लेकर चलेंगे दादा, डर किस बात का? ओऽम् नमो नारायण!'

तरह-तरह की बातचीत होने लगी। अनेक पथों का इतिहास, कितने ही देशों तथा कितने ही राज्यों की कथा। ब्रह्मचारी बहुत दिनों से परिव्राजक-जीवन बिता रहा है, किन्तु विपुल अभिज्ञता होते हुए भी उसको आत्मोपलब्धि नहीं हो सकी। उसने जीवन को देखा है गीता में, वेदों के कई श्लोकों में, महाभारत और रामायण की कई घटनाओं में, भगवान् के प्रति तथाकथित पूर्ण विश्वास में। धर्म की आलोचना में उसके हृदयवेग का परिचय पाया जाता है, धर्मज्ञता और ज्ञान का प्रकाश नहीं पाया जाता। संसार में सब कुछ सहज ही विसर्जन कर चुका है, नहीं छोड़ी है तो केवल आशा। आशा लेकर ही वह बचा हुआ है, आशा के बल पर ही उसका तीर्थ-पर्यटन है और आशा से ही उसका धर्म-जीवन है।

तन्द्राच्छन्न नेत्रों से पड़े-पड़े ही उसकी कथा सुन रहा था। वह एक

समय बोला—कितने स्थानों में आसन डाला, समझते हो दादा, बाँकुड़ा में जयनगर है, जानते तो हो, इसी ग्राम में एक पेड़ के नीचे···उसके बाद वृन्दावन गया, वृन्दावन से सीधा ज्वालामुखी···उँह, सुविधा नहीं हुई—आ गया हरिद्वार में ; किन्तु यहाँ भी वही, धूनी जलाकर मूर्ख संन्यासी बैठे-बैठे गाँजा पीते हैं, जब खाने का समय आता है तो उन्हें भी भूख सताने लगती है···विशेषतः नशाखोर संन्यासियों का वह दल मुझे अच्छा नहीं लगता। इससे क्या होता है, बोलिए तो ? नशे की आँखों से ही यदि दुनिया को देखा···

शरीर थक गया है ; आँखें बन्द करके बोला—यह तो ठीक ही है।

ब्रह्मचारी हँसकर बोला—'मैं निन्दा नहीं करता हूँ दादा ! हाँ, यह कहता हूँ कि यदि दिन-रात नशा ही किया जाय तो साधना के लिए समय कहाँ है ? साधना और तपस्या ही मैं चाहता हूँ। जिस आसन पर बैठे हों उस आसन में एक दिन अग्नि प्रज्वलित हो जाय, नाक चढ़ाकर नासिश्वास···निन्दा मैं नहीं करता, लेकिन इससे वे क्या जानते हैं···

वह फिर अपने आप बोला—जरूरत के मुताबिक नशा करना अच्छा है, समय के अनुसार, शरीर व मन दोनों ही ताजा रहते हैं··· यदि ज्यादा सर्दी पड़ रही हो, जाड़े के दिन हों, यदि रात में नींद न आती हो, हाँ, उस समय अवश्य···निन्दा मैं नहीं करता दादा, उस समय तो यह पाप नहीं है, पाप बोलने से ही···पाप कौन नहीं करता !

मैंने कहा—हाँ, यह तो ठीक है।

'मैं भी क्या पहिले नशा करता था ? जैसे जमता नहीं हो, यह अभ्यास की बात है, 'हैबिट इज दी सेकण्ड नेचर'—हा : हा : हा :··· आप तो सभी कुछ जानते हैं दादा, आप शिक्षित व्यक्ति हैं।' यह कहते-कहते वह हठात् फिर बोल उठा, 'थोड़ा-सा उस दिन खरीदा था, वही गाँजा पड़ा हुआ है, पीने के लिए मेरी इच्छा नहीं है, यह सब क्या, बुरी आदत ! आः, मालूम होता है कि आज बहुत सर्दी है, एक-आध चिलम पी लूँ दादा ?' उस समय चारों ओर निर्जन, निस्तब्ध रात्रि का साम्राज्य था। गंगा के जल का शब्द, इतनी दूर से भी, मैं सुन रहा था।

यात्रा

वैशाख, १९, १३२९। उस दिन हमारी पैदल-यात्रा शुरू हुई। कन्धे पर गठरी और हाथ में लाठी लेकर दोनों बन्धु साथ रास्ता चलने लगे। पत्थर और कंकड़ों से भरा मार्ग, बाईं तरफ दूर पहाड़ की चोटी पर टिहरी का राजमहल ताजमहल की तरह सुशोभित है। उसके ही नीचे देहरादून के घने जंगल हैं। दक्षिण में प्रभात-सूर्य का निश्शब्द समारोह आकाश में प्रसारित हो रहा है, कुछ दूर जाने पर एक निस्तब्ध जंगल आया। उसमें एक छोटा गाँव मिला जहाँ भरत-शत्रुघ्नजी का एक मन्दिर था। मन्दिर के पार हो जाने पर हम धीरे-धीरे चलने लगे। पहाड़ की चढ़ाई प्रारम्भ हुई और हमारी चाल धीमी हो गई। पहाड़ी रास्ते पर चलने में बातचीत नहीं हो सकती। मुँह जब बन्द रहता है तब मन अपना काम करता जाता है। दो मील मार्ग तय करने पर ही हमें यथेष्ट थकावट मालूम होने लगी। नया जूता पैर में लगने लगा, ब्रह्मचारी बगुले की तरह रुक-रुककर चल रहा है; बहुत दिनों के बाद उसने जूते पहने हैं, जूते पहनने की खुशी में उसके पैर बातें करते-करते बढ़ रहे हैं। बहुत ऊँचाई तक रास्ता ऊपर उठकर फिर नीचे की तरफ झुक गया है। पहाड़ी-मार्ग अपनी इच्छानुसार यात्रियों को ले जाता है, समतल जमीन पर हमें स्वाधीनता होती है, चाहे जिस तरफ टेढ़े-मेढ़े चला जा सकता है, यहाँ वैसी बात नहीं है; यहाँ तो तुम पथ के अधीन हो; मार्ग के निर्देश पर ही तुम्हें चलना होगा। नीचे उतरने पर धीरे-धीरे पानी की आवाज़ तेज हो उठी, समझा कि नीचे आ रहे हैं। और कुछ दूर आकर लक्ष्मण-झूला पाया। गंगा की नील-धारा के ऊपर पुल है; दोनों तरफ लोहे की साँकलों से बाँधा हुआ है। बद्रीनारायण के मार्ग के प्रायः सभी पुल लक्ष्मण-झूले की तरह ही बने हुए हैं, पार होने में सारा पुल हिलता है, पुल टूट पड़ने का डर होता है, हमें भी डर लगा। पुल पार करने पर कई बंगाली स्त्री-पुरुष मिले। हमने बद्रीनाथ की ओर पैर बढ़ाये हैं, यह सुनकर वे विस्मित हुए, और शुभेच्छापूर्वक नमस्कार करके उन्होंने हमें विदा दी।

सामने गगनस्पर्शी नीलकण्ठ पर्वत, उसके नीचे दक्षिण में स्वर्गाश्रम का श्वेत मन्दिर हंस के पंखों की तरह सफ़ेद, नीचे गंगा का नील जल-प्रवाह। विदा स्वदेश, विदा सभ्यता, विदा जन-समाज! आत्मीय बन्धु परिचित सभी से मन-ही-मन विदा ली। हमारी आँखों में सुदूर की

पिपासा है, अन्तर में उद्दीपना और उत्साह और हृदय में दुःसाहसिक पथ-यात्रा का दुर्जय आनन्द है। हम गृह-विरागी हैं, किन्तु फिर भी मन भाराक्रान्त क्यों हो गया है? क्यों इस प्रकार पैर काँपने लगे। न जाने गले के अन्दर क्या अटक-सा गया? शायद ऐसा ही होता हो! मनुष्य के इस परित्याग के पीछे एक अनन्त वेदना का स्वर रहता है। इतनी माया, इतनी ममता, ऐसे हृदयावेग के खेल, तथापि ठीक समय में चला जाना होता है, विदा लेनी पड़ती है। शायद एक दिन सवेरे का निर्मल प्रकाश, उज्ज्वल आलोक आँखों पर से मिट जायगा। शायद इसी आकाश, इसी गंगा, इसी पर्वतमाला, धरित्री के चारों तरफ के इसी मनोरम ऐश्वर्य-सम्भार को छोड़कर मैं विदा लूँगा; शायद वह दिन दूर नहीं, उस दिन भी इस मृत्यु-लोक में इसी तरह आनन्द-कलरव चलेगा, किन्तु जो क्षुधा, जो आशा, जो स्वप्न मैं जाने के समय पथ में फेंक जाऊँगा, उसकी ओर फिरकर भी नहीं देखा जायगा।

कष्टदायक ऊँचा-नीचा मार्ग, पत्थरों से घिरा, बीच-बीच में पहाड़ों में पत्र-पल्लवों के अन्दर झरनों की आवाज सुनाई दे रही है, शेष-वसन्त के झड़े हुए पत्तों से मार्ग भरा हुआ है, मनुष्यों का आवागमन प्रायः समाप्त हो गया है और कोई आवाज नहीं सुनाई देती। नया जूता पैर काट रहा है। पीठ पर बँधे कम्बल और झोले की रस्सी से कन्धा दुख रहा है, शरीर थक गया। अनेक लोगों के अनेक उपदेश मिले थे; किन्तु वे केवल उपदेश ही थे। रास्ते में उनकी सार्थकता खोजने पर भी नहीं पा सका, उलझन से बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं मिलता था। दो घण्टे चलने पर ब्रह्मचारी शुष्क कण्ठ से बोला—आओ दादा! थोड़ा बैठ जायें, थक गये हैं।

मार्ग की बगल में, शीतल छाया में दोनों बैठ गये। नीचे नदी की कल-कल ध्वनि, वनमय पहाड़, पास ही एक छोटा-सा मन्दिर, निभृत और प्रशान्त—पुजारी ने हमें पीने को पानी दिया। पानी पीकर ब्रह्मचारी बीड़ी पीने लगा। बातचीत करने को कोई विषय नहीं था, बातें ही क्या हों?—धीरे-धीरे पैर पसारकर सो गये।

संसार में हृदयावेग का कोई मूल्य नहीं है, यह ज्ञात है; फिर भी इस मार्ग के पास सोने पर न जाने कहाँ से मानों अभिमान मन में प्रवेश करने लगा। शौक के नाते भ्रमण करने का मेरा कोई पेशा नहीं, शोर-गुल के साथ दलबद्ध होकर हवा बदलने की भी कोई बात नहीं प्राकृतिक दृश्य देखकर जिनमें भावुकता आती है, ऐसे स्वल्प-प्राण,

उच्छ्वास-सर्वस्व लोगों को भी मैं जानता हूँ; अतः अपने को भी उनसे अलग होते नहीं देख सकता। आज सभी अच्छे मालूम हो रहे हैं। जो बन्धु हैं, जो विरूप हैं, जिनको छोड़ आया हूँ, जो जन्मभूमि मेरे जीवन का आधार है, समाज और धरती अप्रसिद्ध और अनादृत, कोई भी तो अपना-पराया नहीं। आज अपना-पराया नहीं। आज मेरा संन्यासी का वेश है, किन्तु वह केवल परिच्छेद है, केवल बाह्य आवरण है, देश की बात सोचते ही, इस समय शरीर के लाखों स्नायु झनझन करके बज उठते हैं। सहज ही में उस दिन जिस ममता का आश्रय छोड़कर चल दिये, उदासीन होकर जिनसे विदा लेकर चले, आज इस संन्यास के कृत्रिम आवरण के नीचे विच्छेद-कातर हृदय बोलता है, 'तुम लोग हमें भूल मत जाना, हम हैं, बचे हैं।'

एक दिन सभी मरेंगे, किन्तु निश्चिह्न होकर मिट जाने की तरह सान्त्वनाहीन मृत्यु और कुछ नहीं! हम निरुपाय, दुर्बल, भाग्य के खिलौने, फिर भी हम निरन्तर बचे रहना ही चाहते हैं। यही बचने की चेष्टा समस्त पृथ्वी पर अविश्रान्त रूप में चल रही है। कोई बचता है नव-जीवन-सृष्टि के बीच में, कोई शिल्प और साहित्य में आत्म-प्रकाश करते हुए, कोई ख्याति और यश के लिए बचना चाहता है—यह जो समाज, सभ्यता, विज्ञान, साम्राज्य-प्रतिष्ठा हैं, इनके मूल में मनुष्य की बचने की अत्यन्त पिपासा रहती है। जो जीवन को असार समझकर मोक्ष-प्राप्ति की क्षुधा में तीर्थ-भ्रमण में घूमते रहते हैं, वे भी बचे रहना चाहते हैं, उसमें भी, रास्ते की धर्मशालाओं में अपना-अपना नाम लिखे रखने का उनका कैसा अपरिसीम आग्रह और अध्यवसाय दिखाई देता है। ब्रह्मचारी उठा और बोला—चलो दादा, शायद बारह बजे का समय हो गया है, निश्चय ही आपको भूख लगी है।

निःश्वास छोड़कर झोला और कम्बल उठाकर खड़े हो गये। बोला—कितने मील तय कर चुके होंगे ब्रह्मचारी?

रास्ते में मील-पत्थर हैं। ब्रह्मचारी मन ही मन हिसाब लगाकर बोला—लगभग पाँच मील।

और कुछ दूरी पर गरुड़ चट्टी आ गई। एक बड़ी धर्मशाला है। नीचे एक दूकान, उसमें अधिक मूल्य पर सभी खाने की चीजें मिल जाती हैं। धर्मशाला के पास एक सुन्दर बगीचा और तालाब है। पास में पहाड़ से एक झरना बहता है, उसका ही पानी इस तालाब से यात्रियों के लिए एकत्र किया जाता है। चट्टी में ठहरनेवालों के लिए

पीतल के बर्तन मिल जाते हैं, किन्तु इस शर्त पर कि वे चट्टीवाले से ही आटा, घी, चावल आदि खरीदें। जो कुछ न खरीदे, उसे चट्टी में स्थान पाना कठिन है। अनेक चट्टियों में दो पैसे देने पर आश्रय पाया जाता है। सभी चट्टियों में प्रायः एक ही नियम है। इस वेला यहाँ ही विश्राम, उस वेला में फिर यात्रा। उस समय चट्टी की दूसरी मंजिल में बहुत से यात्रियों का समावेश हो गया था। विश्राम के बाद दो बन्धुओं के खाने-पीने के आयोजन में व्यस्त हो गया।

इसी तरह की हमारी यह यात्रा दोनों वक्त खाना-पकाना, दो वक्त बर्तन माँजना, दो वेला रास्ता चलना। दोपहर के समय भोजन करने के बाद गहरी निद्रा, मछली की तरह ताड़ना से मरे मनुष्य की तरह थका हुआ सिर-पैर घुमाकर आराम करता, तीसरे पहर फिर यात्रा प्रारम्भ होती है, शाम को किसी चट्टी में आश्रय लिया जाता है; भोजन करने के बाद पशु की तरह निद्रा, सोते ही अचेत हो जाते हैं। चट्टियाँ अस्त-बल की तरह तीन तरफ से बन्द, एक तरफ खुली हुई होती हैं, वृक्षों के तने और डालियों-पत्तों से तैयार की गईं, कंकड़-पत्थर मिली मिट्टी से लिपी हुईं, बिलकुल दरिद्र और मामूली होती हैं। हम यात्रियों के दल साज-पोषाक उतारकर चित लेट जाते हैं।

यात्री कई प्रान्तों से आते हैं, कोई दक्षिणी, कोई सिन्धी, कोई दल पंजाबी, उत्तर भारतीय, मारवाड़ी, उड़िया, गुजराती, महाराष्ट्रीय, बंगाली दल भी इसके बीच शामिल हो गया। यहाँ की साधारण भाषा उर्दू और हिन्दी का सम्मिश्रण है। दो-चार लोगों को छोड़कर सभी के पैरों में जूते हैं। अधिकांश लोगों के जूते कैन्वेस के हैं, और तले में रबर की सोल हैं। और सुविधा भी इन जूतों के पहनने में होती है। हाथ में एक लाठी रखनी ही पड़ती है। उसके बिना यात्रा के अन्त तक चलना असम्भव है। लाठी ही मार्ग का एक मात्र उपकारी और निःस्वार्थ बन्धु है। अनेक यात्री गढ़वाली कुलियों की पीठ पर जाते हैं, कुलियों में बहुत शक्ति होती है। काण्डीवाला उनका नाम होता है। काण्डी एक टोकरी की तरह होती है, जो पीठ पर बाँधी जाती है, उसके द्वारा माल भी जाता है और मनुष्य भी जाते हैं। काण्डी पर स्त्री-यात्री ही अधिकतर यात्रा करती हैं। डाँडियाँ आराम-कुर्सी की तरह होती हैं, उनके तले में डंडे लगाकर चार कुली कन्धे पर रखकर पालकी की तरह लेकर चलते हैं। सम्भ्रान्त यात्री डाँडी करके ही यात्रा करते हैं, यही सबकी अपेक्षा आरामदायक है। झाँपा भी होते हैं, मुर्दे की झाँझी की तरह उसका

चेहरा होता है, पद्मासन की तरह उसपर बैठा जाता है, इससे मार्ग का परिश्रम तो बच जाता है, किन्तु आराम नहीं मिलता। पहले-पहले तो यात्रियों के दलों में उत्साह होता है, पर चार-छः दिन बाद उनकी चाल मन्द हो जाती है। कोई लँगड़ा कर चलने लगता है, कोई पीछे रह जाता है, कोई बीमार हो जाता है, किसी को चलने से घृणा हो जाती है, और कोई वापस चला जाता है। जिसे पहले स्वस्थ, सबल, प्रसन्नचित्त और मिष्टभाषी देखा था—कई दिनों के बाद उसके शरीर को दुबला-पतला, धूल और धूप से मलिन देखा, करुण-कातर दृष्टि है। शायद चलने में उनके पाँवों में दर्द रहता है, मुख और आँखों पर अस्वाभाविक वितृष्णा है और अत्यन्त चिड़चिड़ा स्वभाव हो गया है। पास खड़े होने से डर लगता है। यात्रियों की यह अवस्था कुली समझते हैं; इसलिए जो बेकार कुली होते हैं, उनकी पीठ पर खाली काण्डी झूलती रहती है, कई दिनों तक धैर्यपूर्वक वे यात्रियों के झुण्डों के पीछे-पीछे चलते हैं। फिर देखा जाता है, धीरे-धीरे एक-एक करके उनके खरीदार मिल जाते हैं, तब यात्रियों की गरज समझकर कुली बहुत किराया माँगते हैं, और आखिर लाचार होकर यात्रियों को देना ही पड़ता है। गर्ज बुरी बला है। इस रास्ते में सभ्य-समाज की तरह चोरी-डकैती आदि कुछ नहीं होती, इस दृष्टि से इस तरफ़ यात्री निरापद होता है। कुली विश्वासी, नम्र और सीधे-सादे होते हैं। पैसे के लिए उनमें मोह होता है, किन्तु उसके लिए दुष्प्रवृत्ति नहीं होती। वे विवाद करेंगे, पर धूर्तता नहीं करेंगे। वे ग़रीब होते हैं, पर ग़रीबी उनके हृदय को कलुषित नहीं करती। वे वित्तहीन हैं, पर चित्तहीन नहीं।

उत्तराखण्ड की गंगा के किनारे-किनारे हमारा मार्ग है। इस तरफ ब्रिटिश गढ़वाल, बाईं तरफ़ नदी और उस पार टिहरी-गढ़वाल है। कर देनेवाला राज्य है, और नाममात्र के लिए स्वाधीन है। गंगा, अलकनन्दा और मन्दाकिनी ही साधारणतः इस राज्य की निर्दिष्ट सीमाएँ हैं। गढ़वालियों के गाँव कहीं-कहीं पर दो मील तक ऊँचाई पर स्थित हैं। ग्रामीण लोग सभी खाते-पीते कहे जा सकते हैं। सभी किसान हैं। पहाड़ी ढालू जमीन में आरी के दाँतों की तरह खेत काट-काट करके वे एक आश्चर्यजनक-उपाय से कृषि उत्पन्न करते हैं। गेहूँ, आलू, अरहर, गोभी, सरसों आदि पैदा हो जाती है। उम्र में जो युवा हैं अथवा बोझ वहन करने में समर्थ वृद्ध और प्रौढ़ चैत्र महीने के अन्त में नीचे मार्गों पर उतर आते हैं—हरिद्वार जाकर यात्रियों को लेने और बोझा लेकर

पहाड़ों में उठाने के लिए। हरिद्वार से मेहलचोरी तक इनकी गतिविधि सीमाबद्ध है, इसके बाहर जाने का उन्हें हुक्म नहीं है। मेहलचोरी गढ़वाल जिले की अन्तिम सीमा पर है। पृथ्वी पर कहीं जो समतल भूमि है, शहर हैं, नाटकघर हैं, स्कूल हैं, उनकी ये लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। रेल-मार्ग पर जो ट्रेनें दौड़ती हैं, पानी में जो जहाज चलते हैं, मैदान में जो फुटबाल खेली जाती है; वे इन लोगों के लिए स्वप्न की तरह हैं। जाड़े के दिनों में ये लोग कैसे बचते हैं, यह तो मुझे पता नहीं; किन्तु ग्रीष्मकाल में कम्बल सिरहाने रखकर ये लोग रात बिता देते हैं। कुली प्रायः जाति के ब्राह्मण या क्षत्रिय होते हैं। यात्रियों के साथ ही वे सोते, रहते, बातचीत करते, गूरा तम्बाकू पीते, किन्तु उनका छुआ नहीं खाते हैं। खान-पान के सम्बन्ध में उनमें विस्मयकर पवित्रता है। मांसाहार करना वे पाप मानते हैं। जीव-हिंसा वे कभी नहीं करते। उनकी स्त्रियाँ भी केवल घर-गृहस्थी के ही कार्य करके नहीं बैठी रहतीं, बल्कि वे भी खेती करतीं, पशुओं को पालतीं, कम्बल बुनतीं, लँहगा वगैरह कतरती-ब्योंतती, तेल-घी तैयार करतीं, पहाड़ के जंगलों से लकड़ी काटकर लातीं, छोटे-छोटे बच्चों को पीठ पर बाँधकर घुमाने के लिए ले जाती हैं। रास्ता चलते यदि कोई ग्राम मिलता है, तो ऐसी हालत में युवा स्त्रियाँ और बालक-बालिकाएँ यात्रियों के पास आकर हाथ पसारते हैं। और कहते हैं—ए सेठजी! ए राना, सुई-धागा दो, पाई-पैसा दो! ए राना, ए राना।—सुई-धागा और पैसा छोड़कर वे और कुछ नहीं माँगतीं। यदि पूरा एक पैसा मिल जाय तो उन्हें बहुत खुशी होती है, मानों कोई अप्रत्याशित ऐश्वर्य हाथ लग गया हो। सुई-धागे की भी उन्हें अद्भुत चाह है। ये वस्तुएँ गढ़वाल जिले में नहीं मिलतीं।

चौथे दिन सवेरे उतार के रास्ते हम व्यास घाट की तरफ चलने लगे। पहाड़ की चोटी से जल-धारा की तरह यात्री नीचे की तरफ उतरने लगे। जब किसी नदी को पार करना होता है या एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर चढ़ना होता है, तब रास्ता उतराई का होता है। उतराई के मार्ग में उतरते समय खतरा रहता है। गिर पड़ने और पैर फिसलने का डर रहता है। बहुत साधकर और सतर्कता के साथ घण्टे के बाद घण्टे उतरते-उतरते तबियत ऊब उठती है। उतरने से घुटनों पर जोर पड़ता है, दर्द होने लगता है। आखिर पैर खराब हो जाते हैं। चढ़ाई के मार्ग पर उठते-उठते, कमर, पीठ और गर्दन के पिछले भाग में दर्द होने लगता है। छाती में व्यथा होती है, दाँतों को भींचे-भींचे

मुँह में तकलीफ होने लगती है—दूर पर चढ़ाई का मार्ग है; यह खबर पाकर हम डरकर एक-दूसरे के मुख की तरफ देखने लगते हैं। आनेवाली विपत्ति मानो रास्ते में हमारी प्रतीक्षा कर रही है।

उस दिन आकाश सवेरे बादलों से घिरा हुआ था। नयार नदी और गंगा के संगम में हू-हू स्वर से हवा चल रही थी। एक नूतन राज्य पार कर गये। आज सुबह तक बत्तीस मील मार्ग तय कर लिया। एक-सी भूमि पर इतना मार्ग तय करने में हमें मामूली परिश्रम ही करना पड़ता; किन्तु ये तो पहाड़ थे—दुर्गम, दुरारोह और पत्थरों से भरे हुए। इस मार्ग का अन्त नहीं, विच्छेद नहीं—एक-सा यन्त्रणादायक मार्ग है। नयार नदी का पुल पार करने पर व्यास गंगा के किनारे एक चट्टी पर हम लोग आ पहुँचे। पिछले दिन की शाम तक कितनी ही चट्टियाँ पार कर चुके थे। नाई सुहाना, बिजनी, बान्दर, शेमालू, कान्दि इत्यादि। बान्दर चट्टी में उस दिन रात को एक घटना हुई। निद्रित अवस्था में हम दोनों बन्धुओं का एक भयानक पहाड़ी साँप ने सस्नेह आलिंगन किया, किन्तु कैसा सौभाग्य कि उसने चुम्बन नहीं लिया। लाठी की चोट से साँप तो मर गया, पर इसी सूत्र में एक पण्डितजी के साथ संबन्ध हो गया। पंडित का घर मध्य-भारत के बुरहानपुर जिले में है। अकेली जान और पक्के तीर्थ-यात्री हैं। करीब एक वर्ष से वह परिव्राजक होकर सब तीर्थों में घूम रहे हैं। संन्यासी योगी का वेश, इसी लिए रेलवे-कम्पनीवाले उनके पास से कभी भाड़ा अदा नहीं कर पाये। न वसूल कर सकने का कारण भी था; उनके चतुर और मधुर अलाप से वन के पशु-पक्षी भी मुग्ध हो जाते थे। उनकी अवस्था पैंतालीस से पैंसठ वर्ष के भीतर होगी। दुबले-पतले पर क़द में बड़े, कई दाँत नहीं, चातुर्य और भगवद्भक्ति की सम्मिश्रित दीप्ति से दोनों आँखें उज्ज्वल, गले में चार-पाँच रुद्राक्ष की माला पड़ी थीं, जप के लिए बैठते तो गोमुखी में हाथ घुमाते, मस्तक पर चन्दन का तिलक लगाते, और मुँह से 'सीताराम' शब्द का उच्चारण करते थे। इस बीच हमारे दल में एक और वृद्धि हो गई, काली घाट के वे यात्री आकर मिल गये। लम्बे बाल, गाँजा पीनेवाले दादा आकर पहुँच गये हैं, उनके पीछे है एक बूढ़ा। बुढ़िया का उत्साह, धैर्य और सहनशीलता देखकर विस्मय होता है।

चारु की मा की कमर झुक गई है, कुबड़ी होकर चल रही है, जीर्ण-शीर्ण शरीर, वह कालीघाट में दूध बेचकर गुजर करती है; वह कई

गाय-भैंसों की मालकिन है। अपनी लड़की के सिवा उसका संसार में और कोई नहीं। लड़की का नाम चारू है।

'सुनती हो मा, भादू को जिस दिन बच्चा हुआ···कितनी वर्षा हुई, वैसा अन्धकार, समझी मुश्किल ही है। किन्तु कानी, गूँगी, पगली, उनका समय···'

'क्या बकती है री चारू की मा! बड़-बड़ कर रही है?'—ब्राह्मण बुढ़िया चिल्ला उठती—इसीलिए तुझको अपने साथ नहीं लाना चाहती थी। ढोरों को खिलाना-पिलाना सुनाते-सुनाते परेशान हो गये, यदि उनकी ही फ़िक्र थी तो फिर आये किसलिए? मैं मरती हूँ ठंड से, और तू···दे अपना कम्बल, ओढ़ लूँ।

'ओ हो, बात सुनो न ब्राह्मणी मा? उसके बाद समझे, बाबा ठाकुर?'

'रुक-रुक, ओ मर, बहुत जरूरत है इसलिए कम्बल माँग रही हूँ, मुझे मत छू, उस जगह बैठ। इन लोगों के बार-बार छूने से मेरा जाति-धर्म अब कुछ भी नहीं बचा। स्वदेश जाकर प्रायश्चित्त नहीं करूँ तो···'

अस्पृश्या चारू की मा अप्रस्तुत होकर चली जाती है।

दादा के साथ अमरसिंह है। युवक पंडे लोगों का आदमी है, पथ-निर्देशक बनकर यात्रियों को बद्रीनाथ तक पहुँचाने का जिम्मा लेकर, साथ आया है। शुद्ध आचरण का ब्राह्मण है। कुछ लिखना-पढ़ना भी जानता है। देवप्रयाग से कुछ दूर पहाड़ के एक किसी गाँव में उसका मकान है। वर्ष के अन्त में पैसा पैदा करने के लिए हरिद्वार में आ जाता है। यात्रियों के सुख-सुविधाओं की तरफ़ उसकी तीव्र दृष्टि रहती है। मामूली बीस-तीस रुपये के लिए प्रायः साढ़े तीन सौ मील उसे चलना पड़ता है। भला आदमी है और वेश-भूषा से भी भद्र मालूम होता है।

व्यासघाट में प्रकृति का अपूर्व प्रकाश है। उदार पर्वत-श्रेणी, मेघों से काले आकाश की छाया नदी पर पड़ रही है; नदी के प्रस्तर-आवर्त में जगह-जगह अनेकों सर्पों की तरह कुण्डलियाँ बनाये, प्रवाह बह रहा है, दूर तक बालू फैली है। कहीं-कहीं एक-दो संन्यासी जप करने के लिए बैठे हुए हैं। घनश्याम वन-रेखा, उसके अन्दर से झरने की आवाज, एक अनिर्वचनीय वातावरण है, किन्तु विश्राम का समय हमारे लिए नहीं है। एक आँख से तो इस स्वप्न-राज्य की शोभा ऐसी दिखाई दे रही थी, दूसरी आँख से पथ की ज्वाला, अपरिमित दुःख और असह्य कष्ट दिखाई दे रहे थे। इस समय भी मन में सोच रहा था, किस तरह वापस फिर

जाऊँ। दो-चार लोगों को वापस जाते देखा था; मेरा जाना ही ऐसा क्या अपराध है। अब भी समय है; अब भी तीन दिन के बाद जन्म-भूमि का स्पर्श कर सकता हूँ। मार्ग अब भी बहुत लम्बा तय नहीं हुआ है; इसके बाद पश्चात्ताप का अन्त नहीं होगा। वापस चले जाने पर लोक-लज्जा का डर है, किन्तु इस सामान्य लोक-लज्जा के लिए क्या इस प्रकार जीवन की बलि दे दूँ? नहीं, मृत्यु से मुझे बड़ा भय लगता है।

'बाबा, तुम इतनी कम उम्र में तीर्थ करने के लिए क्यों आये?'

'तीर्थ करने तो मैं आया नहीं।' मैंने कहा।

'तो फिर? इस दुर्गम मार्ग में क्यों आये? ओहो, यह लड़का!'

'यों ही घूमने चला आया बूढ़ी मा!'

'घूमने आये हो! ओहो, क्या हो गया, घूमने के लिए और कोई जगह नहीं मिली? मालूम होता है विवाह नहीं हुआ है?'

मैंने हँसकर कहा—विवाह होने पर क्या कोई यहाँ नहीं आता?

एक आदमी बोला—आहा, यह तो बाबा बद्रीनाथ की दया है। जिसको अपनी ओर खींचते हैं वही...

मैं बोला—जो बाबा की दया नहीं चाहता, वह यहाँ क्यों आता है बूढ़ी मा?

बुढ़िया आश्चर्य से आँखें कपाल पर चढ़ाकर बोली—जो ईश्वर की दया नहीं चाहता, ऐसा मनुष्य...वह तो नास्तिक होगा भाई!

कुछ मील चलने पर कानाफूसी सुनाई पड़ी, मेरे बराबर नास्तिक और कोई इस दुनिया में नहीं है। निन्दा होने लगी, व्यंग्य-विद्रूप होने लगा, मेरे प्रति बुढ़िया की श्रद्धा और स्नेह विलुप्त हो गया, रास्ते में मेरे जैसे अहंकारी नास्तिक का देखना महापाप माना जाने लगा। सिर झुकाकर उनकी बातें सुन लेने के सिवा और कोई चारा नहीं था।

'और कुछ नहीं, समझ लो, ये सब बच्चों की बातें हैं। पागल भी तो क्या इस तरह ऊटपटाँग नहीं बकता—' दादा बोले।

'क्या कहा, मैंने तो कुछ सुन नहीं पाया!'

'न सुनना ही अच्छा हुआ। कहते हैं, ऐसे समय कान में उँगली डाल लेना अच्छा—बच्चों की बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए—वे भारी पुण्य करने आये हैं!'

उस दिन काफी लम्बा मार्ग तय करके हम शाम को देवप्रयाग में

आ पहुँचे। रास्ते की बगल में एक नंगा, निर्विकार और निर्लिप्त संन्यासी बैठा था। उसके पास ही एक भक्त शिष्य दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर बैठा हुआ था। नवागत यात्री को देखकर अपना सिर नहीं उठाता था, मालूम होता था वह सो रहा है। पास ही धूनी जल रही है। एक पत्थर पर कुछ कच्ची भंग घोटी जा रही है। भक्ति में भरकर, उसके पैरों के पास कुछ मिनट के लिए आँखें मूँदे बैठ गया, और फिर थोड़ी देर बाद उठकर चला गया। वह वास्तविक संन्यासी की तरह ही मालूम होता था।

देवप्रयाग एक छोटा पहाड़ी शहर है। यहाँ पर अलकनन्दा आकर गंगा में मिलती है। मानों नीली साड़ियाँ पहने दो जुड़वाँ बहनें बहुत दिनों के बाद आपस में गले मिलती हों। यहाँ पर रामचन्द्रजी का मन्दिर है। सुना गया कि देवप्रयाग में अपने वंशजों का आगमन देखकर उनके पुरखे पितृलोक में आनन्द से नृत्य करने लगते हैं। उनकी यह इच्छा रहती है कि वंशजों के हाथ से पिण्ड ग्रहण किया जाय; मालूम होता है कि पितृ-लोक में नित्य दुर्भिक्ष रहता है। शहर की मामूली कुछ-कुछ आवश्यक वस्तुएँ यहाँ हैं। यहाँ कुछ धर्मशालाएँ, कम्बलीवाले बाबा का आश्रम, और दातव्य औषधालय, एक छोटा-सा बाजार, एक स्कूल और डाकखाना है।

आज का सफर समाप्त हो गया। क्लान्त मन और भग्न शरीर लेकर अमरसिंह के निर्देश के अनुसार हम सब एक धर्मशाला में आ गये। बच गये, शहर देखकर बच गये, मनुष्यों का समागम और उनके मकान देखकर बचे। इस हिमालय के राज्य में भी और महाप्रस्थान के पथ पर भी, जिसका आदि है, किन्तु अन्त नहीं, मनुष्य-जाति ने कहीं अपने लिए निवास-स्थान बनाये हैं, समाज-संगठन किया है, यहाँ पर भी जीवन-संग्राम है, सुख-दुःख, आशा-आनन्द है—इसको हम पहले नहीं समझ सके थे। हम सभी उदासीन, समाजच्युत तीर्थयात्रियों का दल वायुताड़ित शुष्क और म्लान छिन्न-पत्र—नितान्त वैराग्य से शहर की तरफ देखता रहा। हमारे अन्तर के साथ आज उसका कहीं भी मेल नहीं था।

मामूली भोजन करने के बाद सोने को बिछौने पर गये। पास में ब्रह्मचारी, सिर के पास वृद्ध दादा हैं और दूसरी तरफ बुढ़ियाओं के बीच से बिल्ली की तरह कोलाहल बढ़ा आ रहा है। किसी के शरीर से किसी के पैर छू गये, तो किसी का पैसे-कौड़ी का हिसाब नहीं मिल रहा

है, कोई अपने घर चिट्ठी लिखने बैठा है, किसी के जामाता ने आने को मना किया था, किसी के पाँव में मक्खी के काटने तथा खुजलाने से घाव हो गया है उसी की यंत्रणा और कातरोक्ति—इसी तरह की नाना जटिल समस्याएँ। ब्राह्मणी मा के गले की आवाज़ बीच-बीच में इन जटिलताओं को तीर की नोक की तरह बेधती हुई उठ रही है।

बड़े प्रयत्न और आग्रह से अपना छोटा हुक्का भरकर दादा अँधेरे में दियासलाई आगे बढ़ाकर बोले—जलाओ दादा! बिना तुम्हारे आनन्द नहीं। मालूम होता है कि साफ़ी सूख गई है।

गन्दे पानी में एक चिथड़े को भिगोकर उन्होंने उसे हुक्के की तली में जड़ लिया।

ब्रह्मचारी अनुगत भक्त की तरह प्रसाद ग्रहण करने धीरे-धीरे उठ बैठा। सोने से पहले बिना दो कश लिये उसे नींद ही नहीं आती थी।

हुक्का पीते-पीते दादा बोले—गोपाल घोष आदमी को पहचानता है, इसी लिए ऐसे-वैसे आदमियों के साथ वह संबन्ध नहीं रखता। दादा! तुम्हें मार्ग में अच्छा पाया, तुम्हारी तरह मनुष्य''कहकर उसने हुक्का छोड़ दिया, फिर वह सिर सिकोड़कर सो रहा।

ब्रह्मचारी उसकी बात लेकर बोल उठा—इतना बड़ा धार्मिक है, समझे गोपाल दादा, समस्त-पथ मुझे खिलाते-खिलाते···दादा, आपका ऋण मैं इस जीवन में···

अर्थात्, गुरु और शिष्य दोनों ही उस समय गहरे नशे में मस्त थे।

मैं बोला—ब्रह्मचारी, निन्दा और प्रशंसा अब मेरे सामने एक ही वस्तु हैं, किन्तु आपके पक्ष में ये सब अर्थहीन हैं।

'क्या दादा?'

'यही।आपका कृतज्ञता प्रकाश करना। संन्यासी का सबसे बड़ा लक्षण'निर्विकार होना है।'

रात में देर तक जागकर ब्रह्मचारी के साथ बात-चीत होने लगी। उसके मन की कितनी बातें, कितनी कल्पनाएँ! वह बोला—भगवान् में पूर्ण विश्वास न होने से''मठ जिस दिन खोलूँगा उस दिन आप उसका भार लेंगे दादा। मठ मैं स्थापित करूँगा ही। अब कुछ दिन मेरी भिक्षावृत्ति चलेगी, जरूरत के लिए ही रुपये''किसी भी तरह हो, छल-बल और कौशल से···

मैं बोला—भिक्षा से पेट भर सकता है। धन एकत्र करना सम्भव नहीं है।

ब्रह्मचारी कुछ देर तक न जाने क्या सोचने लगा। इसके बाद बोला—नशा के मुख-से—तब खुलकर ही आपको बोलता हूँ, कितने ही दिनों से आपके पास सलाह लेने के लिए''' आपको कह ही देता हूँ। गोपाल दादा, क्या सो गये हैं ?

गोपाल दादा से कोई प्रत्युत्तर न पाकर निश्चिन्त होकर धीरे-धीरे वह बोला—कुछ रुपये इकट्ठे किये हैं दादा, हजार तो होंगे ही। इस समय दो हजार रुपये तो आखिर लग ही जायेंगे; सोचता हूँ जाने क्या-क्या? बंगाल देश को ही जाऊँगा, एक गाँव की आबहवा इस तरह अच्छी है। करीब तीन दिन पहले रात के समय छिपकर ग्राम के आस-पास एक मैदान में, एक पेड़ के नीचे'''

सिर उठाकर उसकी तरफ देखा।

'आपसे लज्जा नहीं करूँगा, बोल ही देता हूँ,' ब्रह्मचारी लज्जित होकर आँखें झुकाकर बोला—उसी वृक्ष के नीचे मिट्टी खोदकर एक शिवलिङ्ग की स्थापना करूँगा। तीन दिन के बाद उसी गाँव में संन्यासी का वेश रखकर जाऊँगा। कहूँगा, कैलाश से आदेश लेकर आया हूँ। वृक्ष के नीचे भगवान् का आविर्भाव होगा, स्वयंभू महादेव का। मैं उनके मन्दिर की प्रतिष्ठा करने के लिए आया हूँ।

उत्साहित होकर मैं बोला—तो फिर मेरे लिए थोड़ा स्थान दे देना ब्रह्मचारी! मैं तुम्हारे विज्ञान का प्रचार करूँगा। देखो, वह पेड़ भी प्राचीन होना चाहिए। हम लोग प्राचीनता के बड़े भक्त हैं।

ब्रह्मचारी प्रसन्न होकर कहने लगा—देव-देवता का व्यवसाय इस देश में सबकी अपेक्षा जमा हुआ कारबार होता है।

मैं बोला—तुम एक और काम करो ब्रह्मचारी; उसके साथ ही योंही जन्तर-मन्तर, झाड़-फूँक आदि की औषधियों का कारबार भी खोल दो। जिस स्त्री के बच्चा न होता हो, जिसकी अपने पति से बनती न हो, हिस्टीरिया का दौरा होता हो, उन्हीं के लिए।

उत्साह और आनन्द से हँसकर ब्रह्मचारी बोला—और एक चिलम सुलफा तैयार करूँ दादा ?

इस तरफ चरस का प्रादेशिक नाम सुलफा है। ब्रह्मचारी को यह बहुत पसन्द था।

सुबह के समय नींद खुली। शरीर थकावट से चूर-चूर हो गया है। सिर उठाने की भी इच्छा नहीं होती। गर्दन के पीछे दर्द, कन्धे, पीठ और कमर में दर्द, क्षत-विक्षत दोनों पैरों का करुण चेहरा देखकर

आँखों में आँसू आ गये ; कितना कष्ट उन्हें दे रहा हूँ ; प्रभु-भक्त दोनों पैरों की पीड़ा सह लेते हैं, इसलिए वे कोई शिकायत नहीं करते ।

उठकर बैठ गया । शरीर इतना पीड़ित था, मानों उसपर लाठियों की मार पड़ी हो । सबसे अधिक खुशी की बात तो यह थी कि आज चलना नहीं होगा । यहाँ पर यदि नियमित रूप से अन्न-वस्त्र की कोई कमी न रहे तो फिर इसे छोड़कर स्वर्ग जाने की भी इच्छा न हो । जिस मनुष्य को हम पृथ्वी पर सबसे अधिक सुखी समझते हैं, जब उसकी मृत्यु हो जाती है तब हम सभी उसकी आत्मा की शान्ति-कामना करते हैं । असल में मनुष्य संसार में जन्म ग्रहण करके दुःख पाता है, यहाँ पर उसके लिए शान्ति नहीं है, यह बात मनुष्य अपने हृदय में ही अनुभव करता है । ऐसा करने से ही देवताओं की सृष्टि, स्वर्ग की सृष्टि, परलोक में सान्त्वना की सृष्टि हुई है । शिक्षा, साहित्य, कृष्टि * (संस्कृति), सभ्यता सब छोड़ते हुए भी मनुष्य की दृष्टि ऊर्ध्व शिक्षा में गंभीरता के अन्दर एक परम सान्त्वना की वाणी खोजती है । आशा का आश्रय—जीवन के चरम परिणाम के बीच में वह एक सुदूर वेदना को निरन्तर अनुभव करता है ।

सूर्य का निर्मल प्रकाश चारों तरफ फैल गया है, स्निग्ध वायु बह रही है । आकाश कोमल नील है, कहीं-कहीं सफेद बादलों के टुकड़े परों की तरह घूम रहे हैं । बीच-बीच में वे पर्वत-श्रेणियों के शिखरों को स्पर्श करते हैं । उन्हीं शिखरों की देह घने हरित वनों के दुपट्टों से मंडित है और हवा से ये दुपट्टे आकुल हो उठते हैं ।

गंगा और अलकनन्दा के संगम-स्थान पर यात्री लोग श्राद्ध और तर्पण करने के लिए बैठ गये । गोपालदादा और ब्रह्मचारी और प्रमुख बूढ़े-बुढ़ियों ने अपने-अपने सिर मुँड़वाये । पण्डे लोग मन्त्र पढ़ने लगे, खयाल है कि पितृ-गण आकर अपने वंशज-भक्तों के हाथ से आटे के गोले खाकर तृप्त हो अदृश्य हो गये । सभी प्रयागों में श्राद्ध और पिण्ड-दान करना होता है, ऐसा शास्त्रों का आदेश है । शास्त्रों का यह देश है ।

* मेरे व्यवहृत इस 'कृष्टि' शब्द को लेकर कुछ समय पहले साहित्य-समाज में एक वादाविवाद उपस्थित हुआ था । रवीन्द्रनाथ ने सबसे पहले (नवम्बर, १९३२ में) मुझे लिखा कि 'कृष्टि' शब्द भाषा में कुश्री पैदा करता है । दूसरी जगह यह 'संस्कृति' शब्द प्रचलित है—यह भद्र समाज के योग्य है ।' अधिक या बहुत-से सामयिक पत्रों में कई आलोचना-प्रत्यालोचनाओं के बाद अन्त में रवीन्द्रनाथ के 'संस्कृति' शब्द ने ही अधिक मतों के मिलने से विजय पाई ।

दिन अच्छा लग रहा है। इतना कष्ट, इतना परिश्रम, फिर भी इस सुन्दर प्रभात को देख-देखकर उपभोग करते हैं। पास में नदी के उस पार वन—पल्लिका के वृक्ष हवा से हिल रहे हैं, नदी काफी निचाई पर है। शरीर में हवा लगने से अलकनन्दा के पुल के ऊपर इधर-उधर टहलने लगा। मन ही मन कहने लगा—

'शुधू अकारण पुलके, क्षणिकेर गान गारे
आजि प्राण क्षणिक दिनेर आलोके।' *

कविता के अन्दर जो व्यञ्जना है, जैसे उसी का स्वरूप चारों दिशाओं में दिखलाई दे रहा था। प्रभात की यह छवि मानों किसी शिल्पी के समस्त जीवन की साधना में अंकित हो। सारा मन इन चित्रों से अत्यधिक तृप्त हो, तल्लीन हो गया। बहुत देर हो गई थी जब रसोई की तैयारी कर अलकनन्दा में स्नान करने आया। ब्रह्मचारी इस समय रामचन्द्रजी का प्रसाद पाने के लिए मन्दिर में चला गया था, मेरे साथ वह भोजन करनेवाला नहीं था। रसोई बनाने की तैयारी में बैठा ही था कि ऐसे ही समय गोपालदादा आकर बोले—मेरे पास रुपया भँजा हुआ नहीं है। चार आने पैसे तो दे दो दादा! दूकान का हिसाब बेबाक कर दूँ। अभी दे दो।

लकड़ियों को जलाने में फूँकते-फूँकते आँखें लाल हो गई थीं और आँसू आ गये थे। मैं बोला—देता हूँ, जरा रुको!

रूमाल में बँधे हुए रुपये-पैसे ट्रंक में ही होंगे। दिन-रात साथ में ही रखता था। पैसे निकालने गया तो देखा कि ट्रंक खाली है। रूमाल का नाम-निशान भी नहीं था। इसका मतलब? इसका मतलब क्या? एक बार चारों तरफ देख गया और एक मिनट में ही चेहरे का रंग उड़ गया। उठकर झोले आदि देख डाले, कम्बल झाड़ा, कुर्तों की जेबें टटोल डालीं। गले के अन्दर मानों कोई कुछ ठूँस रहा हो, हृदय में ओखली में मूसल की चोट पड़ने की तरह एक प्रकार की आवाज शुरू हुई। चिल्लाने की चेष्टा करने लगा, किन्तु आवाज ही नहीं निकली। भाग उठने की इच्छा हुई, पर कहाँ जाऊँ? यह क्या सर्वनाश हुआ भगवान्?

कुत्ते के सिर पर हठात् लाठी मारने से वह जैसे गिरता-पड़ता पागल की तरह किसी छोटी जगह में चक्कर लगाने लगता है, ठीक वैसे ही मैं भी कई मिनट तक हक्का-बक्का होकर धर्मशाला में घूमने लगा। सब

* 'क्षणिक दिन के आलोक में, केवल अकारण पुलक में, हे प्राण! आज क्षणिक गीत गा।'

कुछ मौजूद है—कम्बल है, झोला है, लाठी है, पर केवल वही सबसे अधिक जरूरी वस्तु सर्वश्रेष्ठ धन नहीं है। मेरा सुख-दुःख, आनन्द-वेदना, पथ-श्रम और तीर्थ-यात्रा, स्वप्न और सौन्दर्य-बोध, सहानुभूति और अनुप्रेरणा, इन सबके मूल में जो रहता है, वही मैले रूमाल में बँधे रुपये-पैसे, इसी बात पर पहले मेरा ध्यान गया। मेरे प्राणों का रस एक क्षण में ही मानों सूख गया, शरीर में जैसे एक बूँद रक्त भी नहीं है, सारे अंग बर्फ की तरह ठंडे और चेतनाहीन हो गये—मानों मेरी अकाल मृत्यु हो गई हो। अपने भयानक परिणाम की बात का ध्यान होते ही साँस रुकने लगी। इस पथ में किसी की सहानुभूति नहीं, मोह-ममता नहीं—जो कुछ भी है वह बिलकुल मौखिक है—स्नेहहीन पुण्यलोभी यात्रियों का दल उदासीन होकर मुझे छोड़कर चला जायगा—आज से चिर दिनों के लिए इस दुर्गम निर्वासन में। सारे पहाड़ राक्षसों की तरह भयानक रूप में सामने आकर विकट भाव से नृत्य करने लगे।

'क्यों दादा, दो भाई, जरा जल्दी करो!'

मैं बोला—मेरे पास भी टूटे पैसे नहीं हैं, रुपया भँजाना पड़ेगा।

'तो फिर बाजार जाकर ही भँजाना पड़ेगा। इस देश में रुपया भँजाना भी बड़ा कठिन है।' यह कहकर गोपालदादा चले गये।

दूसरी तरफ बुढ़ियाएँ खाने को बैठी हैं। मेरे चूल्हे में आग बुझ गई है और धुआँ उठ रहा है, हजारों मक्खियों से चारों दिशाएँ छा गईं, शायद खाने की वस्तुएँ तो अब ली नहीं जायेंगी। उनकी तरफ देखता हुआ पत्थर की तरह खड़ा रहा। नदी सूख गई, प्रवाह बन्द हो गया, चारों दिशाएँ धू-धू कर रही थीं, छाया नहीं, और आँखों में प्रकाश नहीं, आनन्द नहीं, आकाश विषाक्त हो गया। देखते-देखते समस्त प्रकृति का रूप मलीन हो उठा। मैं संन्यासी नहीं, भगवान् पर भी मेरा पूरा विश्वास नहीं है, भगवान् बद्रीनाथ की दया की आशा करके मैंने यात्रा आरम्भ नहीं की थी, देवताओं पर मुझे विश्वास नहीं। मुझे भूख है, प्यास है, अपना जीवन सबसे अधिक प्रिय है। दरिद्रता में, दुःख में, निराशा में मैं वेदना पाता हूँ, सब लुट जाने पर विपद्-ग्रस्त होता हूँ, गृह-वैगुण्य में विधाता का अभिशाप माथे पर आने से इस समय आँखों में आँसू भर आते हैं। मेरे अन्दर वैषयिक हृदय है, स्वार्थ और सुविधा के लिए लोलुपता है। मैं देश वापस चला जाना चाहता हूँ; समाज में, मनुष्य में, स्नेह-ममता, दया-दाक्षिण्य, लोभ-मोह, कलह-कलङ्क, ग्लानि और मालिन्य—इन सबके बीच में मैं गृहस्थ का जीवन बिताना पसन्द

करता हूँ! भय और निराशा से मेरा सारा शरीर थर-थर काँपने लगा। सहायता की प्रार्थना करने पर सभी व्यंग्य करेंगे, सभी की मौखिक सहानुभूति ऊपर से प्रकट होगी, सभी अवज्ञा करेंगे, मेरे दुर्भाग्य की तरफ इशारा कर मुँह फेरकर चले जायेंगे। इसके अलावा यात्री अपने साथ जीवन धारण करने के लिए उपयोगी खर्च, तथा तीर्थ-पूजा का खर्च लाये हैं; पुण्य-कामियों के दल तथा विपद्ग्रस्तों की सहायता करने के लिए तो कोई सम्बल उनके पास नहीं। शहर में जितने मनुष्य—पुजारी, पण्डे, दूकानदार—हैं, वे तो वर्ष के इस समय में यहाँ खुद ही यात्रियों का शोषण करने लिए आते हैं, संग्रह और संचय करने की उनमें अनन्त क्षुधा है, दान करनेवाला मनुष्य उनमें शायद ही कोई हो।

अचानक मन में खयाल आया, ब्रह्मचारी ने तो कहीं मेरे रुपये-पैसे नहीं ले लिये? देखते-देखते उत्तेजना से मेरी दोनों आँखें लाल हो उठीं। अब ठीक तौर से पकड़ा। पिछली बार मेरे रूमाल के सम्बन्ध में वह कुछ इशारा-सा करते-करते रुक गया था। उसके सिवा और कोई नहीं हो सकता! उसका यही पेशा है; यही उसका कायदा है, कल रात ही उसके अन्दर का भयावह रूप देखा था, साधु के वेश में बहुत दिनों से वह मनुष्यों को ठग रहा है। साँप की तरह उसका चरित्र है, शृगाल की तरह उसकी आँखें हैं, बाज की तरह वह मौके की ताक में रहता है। उसे जो आश्रय देता है, उसी के मकान में वह आग लगाता है; विश्वासघातक, कापुरुष—उसका गला दबाऊँ—

'दादा, खड़े-खड़े क्या बड़बड़ा रहे हो?' कहते-कहते ब्रह्मचारी पास आकर खड़ा हो गया और कन्धे पर हाथ रखकर तथा डकार लेकर कहने लगा—बहुत दिनों बाद आज एक पान खा पाया हूँ। रोटी और आलू खाते-खाते मुँह खराब हो गया।

मैं उसके मुँह की तरफ देखने लगा। वह फिर बोलने लगा—यह आपके लिए भी पान लाया हूँ—यह क्या, अभी तक आपने भोजन नहीं किया? स्नान भी नहीं किया?

'स्नान? ओ—जाता हूँ।'

'हाँ, अलकनन्दा में स्नान करना बड़ा अच्छा लगता है, चमकता हुआ स्वच्छ जल'''बड़ा आराम है।'

फ़ौरन ही मैं नदी की तरफ दौड़ पड़ा। गिर पड़ता तो मर ही जाता। कुछ दूरी पर बाईं तरफ रास्ता मुड़ जाता है। इसके बाद पत्थर की सीढ़ियाँ हैं, नदी बहुत नीचे है—पागल की तरह सीढ़ियाँ उतर

गया। सामने बालू से भरी ऊथली भूमि थी, इसलिए जल्दी-जल्दी नहीं चला गया। चारों तरफ़ असंख्य छोटे-बड़े पत्थर भी फैले पड़े हुए थे। कई जगह पैरों में ठोकर लगने से खून निकल आया। इस तरह जल की धारा के पास आया।

एक विशेष पत्थर पर निशान बना दिया था। जल्दी से उसके पास जाकर उसके तले में बालू में हाथ घुसाया। ओ, यही तो मेरा पारस है; मेरे सात राजाओं का धन-माणिक, मेरा स्वर्ग, मेरे बद्रीनाथ। अहा, बच गया, बच गया। स्नान करने के समय रूमाल समेत इसमें छिपाकर रख दिया था, इसका ख़याल ही नहीं रहा। धन्यवाद है तुम्हें ब्रह्मचारी! हे प्रवाह-पूर्ण अलकनन्दा, तुम्हें भी धन्यवाद है। खुशी में और कोई ध्यान नहीं रहा। आह्लाद में संयम नहीं रहा; स्नेह और प्रेम के आवेग में, उत्तेजना में अश्रु-पूर्ण आँखों से रूमाल मुँह में सींच-कर उसे सम्मानित किया।

बद्रीविशाल की जय! जय बाबा केदारनाथ!

जिससे हमें परम प्रयोजन था, ठीक समय पर नितान्त अवहेलना के साथ उसे छोड़कर जा रहे थे। उस दिन तीसरे पहर देवप्रयाग का देना-लेना चुकाकर यात्रियों का दल फिर अपने परिचित टेढ़े-मेढ़े, ऊँचे-नीचे मार्ग पर यात्रा के लिए चल पड़ा। इस मार्ग को देखकर डर लगता था। यह मानों सबको दूरस्थ दुर्गमता की ओर धकेलकर ले जाने को ही अड़ा हुआ हो। साँप की तरह शीर्ण कठोर उसकी देह है, आगे और पीछे दुरूह पर्वतमाला को घेरे अजगर की तरह वह चिर-निद्रा में निद्रित है; ग्रीष्म, वर्षा और बर्फ में वह चंचल नहीं होता। रास्ते में उतरकर एक बार धर्मशाला की तरफ फिरकर देखा, मानों उसका दीवाला निकल चुका हो। जिसने आश्रय दिया, अपने स्नेह-क्रोड़ में जिसने मेरा लालन-पालन किया, उच्छृङ्खलता सही, किन्तु आपत्ति नहीं की, आज उसकी तरफ मुँह फिराकर देखने का भी प्रयोजन नहीं, वह खाली हो गया। ऐसा ही होता है। अब शायद कितने ही दिन उसमें रोशनी नहीं होगी, भय का वास हो जायगा, या कोई वन्य-जन्तु आकर वहाँ आश्रय लेगा; रात के अँधेरे में इधर-उधर से हवा आकर उसके कोने-कोने में विरह का निःश्वास फेंक जायगी और इस समय हमारी यह प्रिय धर्मशाला ऐसी ही निर्विकार, निर्लिप्त, अकृपण, दाक्षिण्यमय तथा अविचल संन्यासी की तरह खड़ी रहेगी।

समस्त अग्रगति के पीछे एक उत्साह होता है, प्राणों का वेग, एक

बड़ा नशा, किन्तु जिनमें यह नहीं, वे भी नहीं ठहर सकते। खिंच-खिंचकर आते हैं, ठेल-ठेलकर जाना ही होता है, जहाँ बावन वहाँ तिरपन हूँ ; भीतर से प्रति मुहूर्त्त ही एक प्रतिज्ञा उठ पड़ती है—क्यों न जाऊँ ? चल, चल—पीछे रुक जा जीवन, मृत्यु रुक जा, मेरी सब इच्छाएँ, मेरे सब संचय रुकें—चल ! गौरीशंकर सीताराम। जय बद्रीविशालल्लाल की जय !

'महाराजजी ?'

मुँह फेरकर देखा। कौपीनधारी चिमटा हाथ में लिये एक साधु हँसता-हँसता बोला—सीताराम मत बोलो, राधेश्याम का नाम लो। सीताराम कहोगे तो चिमटा बजाकर चलोगे और राधेश्याम कहोगे तो घर में बैठकर रहोगे—हाः, हाः, हाः, चलो भाई चकाचक।

विरक्त और निःस्वार्थी साधु भी परम स्फूर्ति एवं आनन्द में गद्गद होकर हँसते, कूदते-फाँदते आगे-आगे चलने लगा। अपने पर वह विजय प्राप्त कर चुका था।

पहले तपोलोक में भ्रमण किया था, अब देवलोक में पदार्पण किया है। बाईं तरफ़ नीचे नई नदी, दक्षिण-वाहिनी अलकनन्दा, गंगा की तरह ही उसके प्रवाह का स्वर, नील निर्मल प्रवाह; जल की अविश्रान्त आवाज़ में नीरवता और भी गंभीर हो उठी है, चढ़ाई के मार्ग में हम उत्तर की तरफ़ चल रहे हैं। क्रमागत उत्तर दिशा की ओर ही हमारी गति, महायोगी की जटा को स्पर्श करने के लिए निरन्तर उसका शरीर बह रहा था, जैसे चींटियों का दल। तीर्थ का यह दीर्घ पथ ही हमारी तपस्या, मार्ग समाप्त होने पर ही सब की छुट्टी। जीवन भी ऐसा ही है, अविच्छिन्न अनुगति ही हमारा जीवित रहना ; हमारी साधना, परम परिणाम को स्पर्श करने के लिए ही हम आगे चलते हैं, कहाँ पहुँचेंगे, यह नहीं जानते। हेमन्त के अन्त में प्रथम वसन्त-काल की तरह आब-हवा, वन्य औषधि-लता और अरण्य-पुष्पों की एक तरह की विचित्र मिश्रित गन्ध से कहीं-कहीं पथ आच्छन्न है, वायु बीच-बीच में उस गन्ध को दूर तक प्रसारित कर यात्रियों का अभिवादन प्रकट करती है ; पर्वत-शिखर की श्यामश्री के ऊपर से धीरे-धीरे मिटने-वाली रक्तिम सूर्य-आभा, नीचे नदी के निर्जन में सन्ध्या की छाया चुपचाप उतर रही है। इस समय हम थोड़ा ही चलेंगे ; एक दिन विश्राम करने पर हममें आराम करने का लोभ बढ़ जाता है, पहली सुविधा पाकर ही हम आश्रय ले लेंगे। कोई तीन मील का रास्ता है,

बहुत धीरे-धीरे चल रहे हैं, जल्दी नहीं है। समय का अन्दाज है, बिद्या-कुटी चट्टी तक पहुँचने में कोई देर नहीं लगेगी।

किन्तु गृह-वैगुण्य! आज सुबह से ही घुटनों में न जाने क्यों अधिक दर्द हो रहा था, इस समय वह और भी बढ़ गया। ऊँचाई-नीचाई पर चलने का जिसे अभ्यास नहीं, सुना था, यह व्यथा उसे सहज ही अपना लेती है। बद्रीनाथ की पैदल-यात्रा के पक्ष में यह व्यथा ही सबसे बड़ी बाधा है, यह बात सभी जानते हैं। चढ़ाई के मार्ग पर चढ़ते समय यह दर्द होता है, उतरने के रास्ते में उतरते समय इसकी प्रति-क्रिया होती है। डर लग गया एवं वह क्या भय था, उसको आज लिखकर नहीं समझा सकूँगा। धीरे-धीरे पैर मचकाते हम चल रहे थे, और सभी आगे निकल गये थे, गोपालदा और ब्रह्मचारी आँखों से ओझल हो गये थे। वे क्यों न जायेंगे? जो रोगी और अशक्त हैं, स्वस्थ मनुष्य उनके साथ सहयोग कर अपने को पंगु किस लिए करें? मेरे साथ उनका कौन सा बन्धन? कैसा ऋण? लँगड़ाते-लँगड़ाते चल रहा हूँ, सुना है, आत्म-विस्मृति से पीड़ा कुछ देर के लिए कम हो जाती है! नाना अवस्थाओं में आत्महारा होने का अभ्यास है। किन्तु आत्म-विस्मृति हो कैसे? जिसे भूल जाना ही उचित है, वही सबसे अधिक मन में पहले आ उपस्थित होता है। अतः आईना होता तो देखता कि शरीर की क्या दुरवस्था हो गई है। धूल और धूप से सिर के बाल भी पुआल की तरह रूखे हो गये थे, चमड़ा विवर्ण और रक्तहीन, आँखें भीतर धँस गई थीं, दृष्टि क्षीण हो गई थी, हाथ और पैर मैल से गन्दे, लकड़ियों की आँच लगते-लगते हाथों के रोम सफाचट हो गये थे। पहनने के कपड़ों और सिर के बालों में एक प्रकार के पीड़ा देनेवाले पिस्सू पड़ गये थे। उनके लगातार उत्पीड़न से रात में निद्रा नहीं आती थी, एक बार भगा देने पर फिर न जाने देह में कैसे घुस जाते थे? इनके साथ ही मक्खियों का उपद्रव रहता, लाखों-करोड़ों मक्खियाँ, सब मक्खीमय, मक्खियों का समुद्र था। ऐसा कोई यात्री नहीं होगा जिसके हाथ-पैरों में इनके काटने के कारण घाव न हुए हों। जल के ऊपर भी ये मक्खियाँ मँडराती थीं, यह दृश्य मैंने पहले ही पहल देखा।

लाठी पर भार दे-देकर धीरे-धीरे बिद्या-कुटी आ पहुँचा। शाम हो चुकी है। पास ही एक कदली-वन है, शुक्ल-पंचमी की ज्योत्स्ना केले के वृक्ष के चौड़े पत्तों के ऊपर पड़ रही है, वे चाँदी के पत्तों की तरह झलमला रहे हैं, अन्धकार में अलक्ष्य अलकनन्दा का झर-झर स्वर

कानों में सुनाई दे रहा है—चारों तरफ़ प्रकृति की एक रोमाञ्चकर बसन्त-शोभा है। कई क्षण विश्राम करने के बाद ब्रह्मचारी रोटी सेंकने का आयोजन करने लगा। पहले पानी गर्म किया, उसमें नमक मिलाकर पैरों पर मालिश करने के लिए बैठ गया। जैसा देश वैसा वेश, नमक और गर्म पानी की तरह पैरों के दर्द की दवा और कहीं भी दुनिया में नहीं! ब्रह्मचारी बोला—आपका दर्द भी मैं अच्छा कर दूँगा। इससे भी ठीक न होगा तो एक दूसरी और औषधि भी मैं जानता हूँ।

रसोई बनाने, खाने और सोने में वह रात बीती। सवेरे से फिर यात्रा। बूढ़ियों ने नास्तिक और धर्म-त्यागी कहकर मुझसे सम्पर्क नहीं रखा था। मेरे प्रति अब उनकी कोई सहानुभूति नहीं। झुकी कमरवाली चारु की मा चुपचाप छिपकर कह गई, 'इसी लिए मैंने तुम्हें नहीं छोड़ा है, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे ही हूँ। कालीघाट में चक्रवर्ती के घर, मैं तीन पाव दूध देती हूँ; उसका रुपया-पैसा अवश्य चारु ही अपने पास रख लेती है···हाँ, उनके घर में तुम्हारी तरह ही एक लड़का है···आहा, जिस दिन मेरा निवारण मर गया, वही एक भतीजा था—उसी वर्ष दूध दुहने बैठी थी कि हावली के लात मारने से मेरा घुटना टूट गया, उस दिन हावली के पैरों में रस्सी बाँधी थी। ओ, जाती हूँ, वे फिर डाटेंगे··पैर का दर्द कैसा है, बाबा ठाकुर ?' इतना कहकर चारु की मा लाठी टेकती हुई झुककर लम्बे-लम्बे कदम रखने लगी। बुढ़िया की अवस्था सत्तर के ऊपर पहुँच गई थी।

मैं धीरे-धीरे चल रहा हूँ, आज रास्ता काफ़ी तै करना है, आज और क्षमा नहीं। मैं साधारण चाल से चलने पर भी सबके आगे रहता था; अबसे ऐसा नहीं होगा, इस बार पीछे ही रहना होगा। गोपालदा बुढ़ियों को लेकर चले, ब्रह्मचारी भी कुछ दूर तक साथ-साथ चला, इसके बाद वह भी आगे बढ़ गया। पीछे से जो पंजाबी और बिहारी यात्री आ रहे थे, वे भी सस्नेह मेरे पैरों की तरफ़ एक बार देखकर मेरे पास से होकर चले गये; पीछे और भी कोई है, इसका मुझे पता नहीं! सबके मन में एक ही बात, आगे चल, आगे चल भाई। आज का मार्ग बड़ा कठिन और दुर्गम है, कहीं-कहीं नदी के किनारे रास्ता धँस गया है, कहीं-कहीं पत्थरों का ढेर खतरनाक अवस्था में पहाड़ के शरीर में मामूली आधार पर अटक रहा है, एक बार फिसल पड़ने से एक साथ दस यात्रियों की मृत्यु होती। कई चीज़ों से भरा झोला और कम्बल का भार अब अखरने लगा है। कन्धे में दर्द होने लगा! खुद अकेले

चलने से ही कष्ट होता है, फिर बोझ किस तरह लेकर चला जाता ? मामूली एक सेर वजन लेकर भी इस दुर्गम मार्ग पर चलना कठिन है, बहुत अखरता है और काफ़ी मेहनत पड़ती है। मेरे पास कोई सात सेर वज़न के कम्बल और झोले होंगे। यात्रा का आनन्द नहीं, शरीर अचल, पैर पंगु, भोजन रूखा-सूखा, शरीर में रात-दिन काट रहे हैं''जूतों के काटने से पैरों में बड़े-बड़े फफोले, निरुत्साह मन, पुण्य-संचय की अब स्पृहा नहीं—इस स्थिति में फिर कैसे चला जाता ? ख़ैर, प्रायः अस्सी मील पहाड़ इसी तरह पार हो गये !

एक अस्फुट आर्तनाद से मैंने पीछे की ओर देखा। रास्ते की बगल में एक तरफ़ दो पुरुष-यात्री एक पत्थर के सहारे बैठे-बैठे हाँप रहे हैं। मैं समझ गया कि ये पीड़ित हैं, चल नहीं सकते। बस यहाँ तक ही। लाठी टेक-टेककर मैं आगे बढ़ रहा था, एक मनुष्य हाथ उठाकर बोला। बोलने से क्या, विरक्त होकर मैंने कहा, 'कहो, क्या बोलते हो ?' वह न जाने क्या बड़बड़ करने लगा। कुछ समझ में नहीं आया कि किस जाति का है। आख़िर एक आदमी उठा और आकर मेरा लोटा छूकर इशारा करके पूछने लगा, 'पानी है कि नहीं ?' पानी थोड़ा ही था; रोगी के मुँह में उसे डालकर, फिर आगे चल दिया। मालूम होता था कि, पीछे से वह आशीर्वाद दे रहा था, किन्तु भाषा समझ नहीं पाया। उसके आशीर्वाद का मूल्य मेरे सामने एक कानी कौड़ी के बराबर भी नहीं ; जब तक पैरों की पीड़ा नहीं मिट जाती, संसार को तब तक मैं सुदृष्टि से नहीं देख सकता।

हाँ, संसार का नियम ही यह है। अपने मन के अनुसार ही हम सब कुछ का विचार करते हैं। कोई विश्व को सुन्दर रूप में देखता है, और कोई कुत्सित रूप में। पाँवों में पीड़ा होने के कारण ही उस दिन की तीर्थ-यात्रा, मार्ग में प्रकृति का सौन्दर्य और हिमालय का विपुल सौन्दर्य-सम्भार मेरी आँखों में विपाक बन गया था, मैं हृदय की स्वस्थता को खो चुका था, सहज उपलब्धि और सरल दृष्टि को भी। अपमान और विरक्ति से आकाश और पृथ्वी दोनों छा गये थे। शायद ऐसा ही हुआ। कला और साहित्य की समालोचना में देखा जाता है कि एक ही वस्तु के संबन्ध में समालोचकों के विभिन्न मत होते हैं। यह ठीक है कि विभिन्न मतों का अपना-अपना मूल्य है, किन्तु जहाँ साहित्य कला का स्थान ले लेता है, जहाँ गंभीर अनुभूति का निर्मल आनन्द प्रकाशित होता है, वहाँ पर मतों की विभिन्नता को मन नहीं

समझ सकता । विचारों के अन्याय में सत्साहित्य को जो गन्दा करने की चेष्टा में व्यग्र रहते हैं, जान पड़ता है वे समालोचक मेरी ही तरह लँगड़ाते चलते हैं। लँगड़े पाँव की ग्लानि को वे साहित्य की तथाकथित समालोचना में फैला देते हैं।

'क्या दादा, बहुत कष्ट है ? तुम बहुत पीछे रह गये। यहाँ पर तुम्हारे ही लिए ठहर रहा हूँ। यह—एक और संगी मिल गये हैं।'

मुँह उठाया। देखा एक लम्बा-चौड़ा काले शरीर का बंगाली गृहस्थ एक शिला पर बैठा बीड़ी पी रहा है। नमस्कार आदि किया। फिर सामान्य बातचीत हुई। बातों-ही-बातों में पता चला कि वह अकेले ही नहीं हैं, उनके साथ अपनी स्त्री और सास भी हैं। वे लोग कुछ दूर आगे चले गये हैं, दस मील से अधिक चलना उनके लिए कठिन है। उनका नाम अघोर बाबू था। वह बोले, 'बहुत कहा, काँडी या डाँडी कर लो, इसमें खर्च ही कौन-सा बड़ा होगा, किन्तु उन्होंने एक न सुनी, स्त्रियों का हठ भी बड़ा भयानक होता है, बीच रास्ते में अबाध्य होना मुझे अच्छा नहीं लगता। पैदल चलेंगे तो पाँवों में दर्द तो होगा ही।'

मैं बोला—डाँडी में क्यों नहीं चढ़े ?

'इसी लिए कि पुण्य न होगा। इस तरह चलने से बाबा बद्रीनाथ की दया अधिक होगी।'

ब्रह्मचारी बोला—आहा, यह सत्य है, ओऽम् नमो नारायण! भगवान् में पूर्ण विश्वास रखकर जो नहीं चलते···अच्छा चलिए, मैं थोड़ा आगे चलता हूँ। यह कहकर वह झोला-कम्बल लेकर चलने लगा।

अघोर बाबू का मकान कलकत्ता में है। काज-कारबार है, पर अब व्यवसाय का बाजार मन्दा हो गया है। स्त्री को लेकर तीर्थ-भ्रमण को निकले हैं। उनके कोई भी बाल-बच्चा नहीं है। बोले, 'आप तो संन्यासी लोग हैं संसार की ज्वाला नहीं। अच्छा, बताइए ब्रह्मचारी कैसा आदमी है ? मैंने सुना कि आप तो उसे खिलाते-पिलाते हुए आ रहे हैं। वह कैसा आदमी है ? नकली तो नहीं ?'

मैं बोला—नकली होने से क्या हुआ, मुझे बताओ ? सभी के साधु हो जाने से विपत्ति ही होगी !

'यही तो कहता हूँ, आपसे यही तो पूछता हूँ। कितनों ही ने अपने दुःख मुझे सुनाये हैं, उन्होंने कुछ सहायता भी चाही। रुपये-पैसे तो मैं दे नहीं सकता। खाने-पीने को एकाध दिन कुछ दे सकता हूँ।'

'अजी, यही काफी है !' मैं बोला—मार्ग में खिलाना-पिलाना क्या कम है ?

'हाँ, यही तो कहता हूँ, मनुष्य को पहचानना कितना कठिन है ! एक बार एक खराब नौकर रखा था। वह बिना वेतन के नौकरी करता रहा। अचानक एक दिन भाग गया। सन्दूक खोलकर देखा तो गहना भी गायब था। दूसरों का गहना बन्धक रखकर रुपये उधार दिये थे, सोच सकते हो, कितनी भयानक विपत्ति आई !'

मैं हँसकर बोला - तन्ख्वाह न देने से ही विपत्ति आई !

यह बात सुन वह प्रसन्न नहीं हुए; किन्तु आत्म-संवरण करके बोले—यही सही, लाभ का गुड़ चींटियाँ खा गईं।

बातचीत करते-करते रायपुर चट्टी के पास आ पहुँचे, इसके पहले रानीबाग छोड़कर आये हैं। सामने एक बड़ा झरना है। उसके आस-पास कुछ चट्टियाँ हैं। मार्ग में चट्टी के पास अघोर बाबू की स्त्री और सास दिखाई दीं। मार्ग के परिश्रम से दोनों ही थकी हुई और मा उदास थीं, किन्तु राख से ढकी आग की तरह स्त्री का शरीर-सौन्दर्य सभी की दृष्टि को आकर्षित कर रहा था। चेहरे पर एक कमनीय शान्त श्री थी। ब्रह्मचारी पास ही खड़ा था, वह उत्साहपूर्वक बोल उठा, 'दादा, यह देखो, यही मेरी मा है, अन्नपूर्णा मा और यह मेरी दादी है।' कहकर वह पास की वृद्धा को दिखाने लगा।

स्मित मुख से मैंने उसकी तरफ देखा, किन्तु बातचीत करने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं था। मार्ग में जितनी स्त्री-यात्री देखी गईं, उनमें यही एक मात्र कम अवस्था की और रूपवती थीं। मैंने पूछा—हमारे लिए भी किसी चट्टी की व्यवस्था की है या नहीं ब्रह्मचारी ?

'यही चट्टी, यही अच्छी है दादा ! गोपालदा भी तो यहीं आ गये हैं।'

'अच्छा, अच्छा, आओ थोड़ा बैठ जायें। पैर थक गये हैं।' सारा शरीर दुख रहा था।

मुझे उदासीन देखकर अघोर बाबू कुछ क्षुब्ध हुए; बातचीत ही क्या होती ? हठात् व्यस्त होकर वह बोले—क्या यहाँ दूध नहीं मिलता ? मेरे पास चाय और चीनी है, जरा चाय ही पी जाती ?

चाय की व्यवस्था के लिए वह चले गये। स्त्री ने स्निग्ध हँसी में सविनय पूछा—आपके पैरों में क्या दर्द है ?

मैं बोला—हाँ, भारी परेशानी है।

वृद्धा बोली—अच्छा, राधारानी की पीड़ा का साथी मिल गया। मेरी लड़की के बायें पाँव में भारी दर्द है, बाबा!

'तब तो ठीक ही है। ब्रह्मचारी, तुम तो मेरे साथ इस समय नहीं खाओगे ?'

ब्रह्मचारी पास आकर सिर खुजलाता हुआ बोला—यही बात तो आपसे कहता था, मा अन्नपूर्णा का प्रसाद पाकर ही मेरी इस समय गुजर होगी दादा! आपने तो मेरे लिए यथेष्ट खर्च किया ही है। अबसे इन्हीं...'

'अच्छा, अच्छा...'

'मैं आपके लिए भोजन तैयार कर दूँ दादा ?'

'नहीं, मुझे बनाने में कोई कष्ट न होगा।'

इतने में गोपालदा दिखाई दिये। वे एक तरफ बैठकर, आनन्द से तम्बाकू पीने की व्यवस्था कर रहे थे। धीरे-धीरे बोले—बड़े घर की स्त्री हैं, क्या करना ? ओ हो, क्यों कष्ट करने निकली हैं! मालूम होता है ऐशो-आराम नहीं सह सकीं। लो, पकड़ो चिलम को, दियासलाई जलाता हूँ।

पास-पास सभी रसोई बनाने बैठ गये। अघोर बाबू चाकू से आलू काटने लगे, ब्रह्मचारी कहीं से मसाला इकट्ठा करके, उसे पत्थर पर पीसने बैठ गया। फिर भी यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि उत्साह की भारी कमी है। अघोर बाबू की सास और बहू अधमरी सी होकर बैठ गई थीं। मैंने सोचा, उनमें अब उठने की शक्ति नहीं है, सारे अङ्ग धूल-धूसरित हो गये थे, कपड़े बहुत ही मैले हो गये थे, सिर के बाल जटाओं की तरह हो गये थे, मानों वे मृतक-संस्कार करके अभी हाल श्मशान से लौटी हों। कौन किसको देखे ? जिस तरफ भी देखो, केवल थकावट, मार्ग की पीड़ा, निस्तेज शरीर, और अवसन्न हृदय दिखाई देते थे। इसी बीच कई स्त्री-पुरुष न चल सकने के कारण, अधिक किराया देकर कुलियों की पीठ पर कण्डी पर बैठकर यात्रा करने लगे थे, खिदिरपुर की मौसी के पैरों में बहुत दर्द था, काँडी में चढ़ने अथवा उससे उतरने के समय वह जिस तरह चीखती-चिल्लाती थीं, उससे डर लगता था। निर्मला तो अनाहार के कारण अधमरी हो गई थी। रास्ता चलने से उसमें रसोई बनाने का उत्साह नहीं रहा था, इसलिए पानी और शक्कर मिला आटा घोलकर खा रही थी। किन्तु यह पेट क्यों सहता, अतएव उसे कै-दस्त लगने शुरू हो गये। इसके अतिरिक्त

मक्खियों के काटने से जो खुजली उठती थी उससे भी कोई-कोई पागल की तरह इधर-उधर भागने लगते। ऐसा लगा कि झरने के पानी का भी दोष है। कई प्रकार के पहाड़ी पेड़ों व लताओं की पत्तियों के ऊपर झरने बहते हैं, इसलिए उसके पानी का उपयोग भी निरापद नहीं होता।

किन्तु जल-वायु का गुण भी आश्चर्य-जनक है। आधा घण्टे विश्राम करने के बाद मृत शरीर भी फिर फुर्तीले और जानदार होकर उठ बैठे। खाने-पकाने, भीड़-भाड़, गप-शप, इधर-उधर की चर्चा से फिर उत्साह का ज्वार उठ पड़ता है। भोजन आदि के बाद सभी बर्तन साफ़ करके चट्टीवाले के साथ हिसाब करने बैठ जाते। मोटे हिसाब से एक आदमी के एक बार के खाने का खर्चा चार आने पड़ता है। किन्तु जहाँ चीजें मिलनी कठिन होती हैं, वहाँ पर छः आने से कम में उदर-पूर्त्ति नहीं होती है। घी और दूध के सम्बन्ध में जो कम खर्च करता है, उसके अन्त तक बीमार होने की सम्भावना बनी रहती है। अपने हाथों से बनाये भोजन के सिवा और कुछ आहार करना इस मार्ग में विपत्ति-जनक है। हर साल आहारादि की असावधानी के कारण कितने यात्री क्रिया-शक्ति से हीन होकर मरते होंगे, इसकी कोई हद नहीं।

'इसी तरह कितने ही कष्ट होते हैं, जिन्हें देखकर मुझे दुःख होता है। ये लोग जीवन को खतरे में क्यों डालने आते हैं?'

बहू के गले की आवाज सुनकर मैंने मुख फेरकर देखा। उनकी वाणी में करुणा और दर्द था। पहले किसी ने उत्तर नहीं दिया, किन्तु इसके बाद ही अघोर बाबू खीझकर बोले—तुम फिर आई क्यों? घर बैठकर पूजा करने से क्या पुण्य नहीं होता?

'मैं मरी जा रही हूँ, यहाँ ऐसा रास्ता होगा, इसका मुझे क्या पता था?'

'अच्छा, अब चुप हो जाओ! ज्यादा बकबक मत करो!'

सास बोल उठी—बद्रीनारायण हम भूलकर भी नहीं आते, अगर हमें पता होता तो, हमारा कोई दोष नहीं।

इतनी थकावट होने पर भी बहू के मुख पर हँसी आ गई। कुछ देर बाद वह बोलीं—अच्छा, पैरों के लिए किसी दवा का पता लगा? बड़ी तकलीफ़ है।

मैंने कहा—सुना कि श्रीनगर में अस्पताल है, देखा जाय।

'देखती हूँ कि आपका तो दाहिना पैर खराब हो गया है, पर मेरे बायें पाँव में तकलीफ़ है। चढ़ते समय तो दर्द सह लिया जाता है, पर

उतरते हुए ' अरे बाप रे ; घुटने टूटे पड़ते हैं। आँखों में आँसू आ जाते हैं। लाठी पर भार रखकर चलने से दाहिना हाथ आज अब मुड़ ही नहीं रहा है—अच्छा, एक बात बताओगे ?'

मुख उठाया। वह अनेक दुविधाएँ और संकोच दबाकर हठात् मेरे मुख की तरफ़ देखकर बोलीं—बहुत देर से सोच रही हूँ—आप क्या स्वामी विवेकानन्द के कोई आत्मीय हैं ?

'जी नहीं।'

कुछ वक्त और इधर-उधर की बातों में बिताया। भोजन बनाने की तैयारी में था, इसी समय बहू ने गुपचुप अघोर बाबू से कुछ अनुरोध किया। पति बोले, 'कितने ताज्जुब की बात है, तुम कह नहीं सकतीं ? यह तो तुम्हारे ही बतलाने की बात है।'

वह फिर पास आकर खड़ी हो गई।

मुख उठाने के पहले ही यह स्निग्ध, दीप्त और सम्भ्रान्त महिला अपने स्वाभाविक कोमल, लज्जाजड़ित कण्ठ से सविनय बोली—मार्ग में आम का पेड़ देखकर एक कच्चा आम तोड़कर ले आई, चटनी बनाई है, आप खायेंगे ?

भूल गया था, पृथ्वी पर कहीं स्नेह का बन्धन है, कहीं अयाचित आत्मीयता है, भूल ही गया कहीं मनुष्य के लिए मनुष्य का उद्वेग और हित-कामना है। मन में लगा कि यह यहाँ दूर बंगाल देश से श्याम-श्री की कमनीयता लेकर आई हैं, मिट्टी की ममता लेकर। फिर भी विनीत कण्ठ से बोला—शास्त्र में कहा है, तीर्थ के मार्ग में किसी से भेंट या दान लेना उचित नहीं।

'ओ, तब रहने दीजिए, यह बात मुझे ज्ञात नहीं थी।' बोलते-बोलते वह सिर झुकाकर चली गईं।

आज श्रीनगर पहुँचना चाहिए। जल्दी-जल्दी कोई ढाई बजे सभी रास्ते पर चलने के लिए आ गये। पैरों की तकलीफ़ के कारण सीधे खड़े होकर चल नहीं पाते; बहू भी बिल्कुल लाठी टेकती-टेकती लँगड़ाती हुई चल रही हैं, अब मालिश का ठीक इन्तजाम हुए बिना काम चलने का नहीं। अभी तो हम केवल छः दिन ही चले हैं। लगभग एक महीने तक रास्ता और चलना होगा, पैरों को तो स्वस्थ रखना चाहिए ही। एक जगह दो-चार दिन विश्राम लेकर हम पैरों की थकान मिटा सकते थे, पर उससे हमारे चलने का छन्द भंग हो जाता, पीछे पड़ जाते, समय के साथ क़दम नहीं रख सकते, पथ के जो सुख-दुःख के अस्थायी

संगी थे—सुबह-शाम दुःख में, दुर्गम में, जिनका व्यथित और करुण मुख हम देखते आ रहे थे, उनसे बिलकुल साथ ही छूट जाता। हम सभी, सबके परम आत्मीय हो गये थे—पण्डितजी, पगड़ी पहने रामाचार, एक पूना से आई हुई महाराष्ट्रीय वृद्धा, गोपालदा, अमरसिंह, कुली कालीचरण और तुलसीराम, ब्रह्मचारी, रुईदास शुक्ल—इनमें से किसी को छोड़ना हृदय को बहुत अखरता। जाति-विचार नहीं, स्पृश्यता और अस्पृश्यता का भी कोई प्रश्न नहीं, सब इकट्ठे बैठकर तम्बाखू पीते हैं। कालीचरण कुली ही सही, वह तम्बाकू का कश लगाकर हुक्के को गोपालदा के हाथ में देता, गोपालदा अमरसिंह के हाथ में, अमरसिंह ब्रह्मचारी के हाथ में, ब्रह्मचारी का प्रसाद रुईदास शुक्ल पाते। शाम के समय बिना मौज में आये कोई रह नहीं सकता था। सर्वत्यागी परिव्राजकों का दल तम्बाकू और सुलफा के नशे में अर्ध-चेतन हो चट्टी के पास बैठकर अपनी धुन में मस्त रहता। उन्हें बाहरी दुनिया में क्या हो रहा है, इसका कोई पता रखने की जरूरत नहीं थी। मनुष्य की कल्पना को घेरकर जो एक आलोक सामान्य रूप-कथा-सा स्वप्न-राज्य होता है, उसके मस्तक के ऊपर आती है प्रथम सूर्य-रश्मि लेखा, जो ऐसी मालूम होती है, मानों उदासिनी सन्ध्या का रहस्यमय पथ हो। वे सभी गृहत्यागी, संन्यासी और संन्यासिनी हैं, उनके मुख में केवल तीर्थ और देव-मन्दिरों की ही बात रहती है, नदी, सागर और हिम के देश की ही चर्चा करते हैं; उनके पास में सुनाई देती है वन्य-जन्तुओं की बात, या विपत्ति की कहानी।

इस समय प्रायः आठ मील रास्ता है। चलने से पाँव दुखने लगे हैं। भीलकेदार तक चार मील मार्ग अतिरिक्त कष्टदायक है। इस स्थान का नाम दुण्डप्रयाग भी है। भीलगंगा और अलकानन्दा यहाँ पर मिलती हैं। कोई पाँच-छः जीर्ण चट्टी वहाँ पास-पास ही हैं। पहले प्रस्ताव हुआ, आज भीलकेदार तक पहुँचा जाय, पर वहाँ तक जाने को कोई राजी नहीं हुआ। समय भी काफी है, अनायास ही इस समय तीन-चार मील तक चला जा सकता है। पैरों के दर्द के नाम पर हम दो-एक मनुष्यों ने आपत्ति की, किन्तु जन-मत की ही विजय हुई। सुना गया, मार्ग में चढ़ाई और उतराई वैसी कुछ नहीं है, अधिक पैरों पर जोर देकर नहीं चलना पड़ेगा; श्रीनगर आज ही पहुँचना उचित है।

इस ओर मल्लिका और मालती-लता रास्ते में छाई हुई हैं। वन-गुलाब के जंगल से लजाई-सी सुगन्ध चुपचाप चली आ रही है। इतने

दिनों के बाद आज एक समतल मार्ग मिला। अलकानन्दा के किनारे होकर ढालू पहाड़ों तक खेती होती है! नदी के किनारे-किनारे छोटे छोटे गाँव चित्रपट की तरह अंकित हैं। मार्ग में काँचा सिद्धि और नागफनी के घने जंगल थे। उनके भीतर से यात्री लोग चलते हैं। इनके बीच में सबसे अधिक आश्चर्य तो आम और सहिजन के पेड़ों को देखकर होता है! कहीं-कहीं आस-पास में चूने और बालू के पहाड़ हैं, सूखे झरनों के निशान पड़े हुए हैं। नदी के उस पार मनोरम प्राकृतिक शोभा है; पर्वत-प्राचीर में हमारी थकी हुई दृष्टि और अतिहत नहीं होती; आँखें प्रकृति के अखण्ड सौन्दर्य के बीच निश्चिन्त होकर विचरने लगीं। स्नायु-ग्रन्थियाँ अलग होकर इस कमनीयता के अन्दर आ पड़ना चाहती हैं। हम प्रायः नदी के समतल आ गये। ओह् बच गये। बच गये।

मैं पीछे रह गया था। चलते-चलते देखा, सास और बहू मार्ग के पास थककर बैठ गई हैं। आगे-पीछे रहने से क्या, सभी से एक बार मुलाकात हो जाती है, दो-एक बार चलते-चलते सबको विश्राम लेना ही पड़ता है—पानी पीने तथा ठंढी हवा से पसीना सुखाने के लिए। फिर सिकुड़ा शरीर सीधा कर चलने लगते। नदी के किनारे बहुत गर्मी मालूम होती है और चढ़ाई पर चढ़ने में ठंढी हवा लगती है। गर्मी की अपेक्षा ठंढे में ही यात्रियों को सुविधा रहती है। सास ने पुकारा—तुम्हारा श्रीनगर कितनी दूर और है बाबा? लड़की से अब चला नहीं जाता।

खड़े होकर बात करने में शरीर टूटता-सा मालूम होता है, अतः झोला-कम्बल रखकर मार्ग के इस पार उदास होकर बैठ गया। बोला—अब ज्यादा दूर नहीं है।

मा और बेटी हाँफ रही थीं। लड़की के पैरों को सहलाते हुए बोली—तुम्हारे लोटे में थोड़ा पानी होगा बाबा? जरा दो तो?

इतनी थकावट थी कि कई मिनट तक यही विचार करता रहा कि मैं ही पानी दे दूँ या वह खुद ले लेंगी। आखिर वह ही खुद उठकर जल ले गईं। उन्होंने खुद पानी पिया और उसके बाद आँखें मूँदी हुई लड़की के गले में भी पानी डाल दिया। पैरों के दर्द के कारण लड़की को होश नहीं था, वह प्रायः चलने की शक्ति से हीन हो गई थी, फिर कुछ स्वस्थ हो सिर उठाकर देखने लगी। अब कृतज्ञता प्रकट करने की आवश्यकता नहीं, वह तो अब पुरानी चीज हो गई है। केवल बोलीं—आप तो पुरुष हैं, दर्द सहते हुए भी घसीटते-घसीटते चल सकते हैं, किन्तु हम तो मृतप्राय हो जाती हैं।

धूल, बालू, तेल-जल के दागों से, बेपरवाही व असाध्य परिश्रम से ऐसा लक्ष्मी का-सा रूप सूखकर काला हो उठा है—यही बातें उनकी मा कहने लगीं। यही मालूम भी हो रहा था। आराम, ऐश्वर्य और भोग में पला हुआ शरीर, किन्तु लड़की को क्या नशा-सा चढ़ा कि ऐसी कठोर तीर्थ-यात्रा को निकल पड़ी और साथ में अपनी मा को भी ले आई। आजकल के लड़के-लड़कियाँ सब दुनिया-भ्रमण की इच्छा करते हैं। केवल क्या तीर्थ-दर्शन और पुण्य-कामना के लिए? कहीं लड़कियाँ तो अपने देवता को लेकर किसी भी दिन उच्छ्वास-प्रकाश तक नहीं करतीं? तिस पर भी यह जान पड़ा कि यदि यह लड़की कई वर्ष तीर्थों में नहीं घूमेगी तो इसे शान्ति ही न मिलेगी। इसकी अवस्था भी इस समय कितनी होगी, तीस वर्ष की उम्र तक पहुँचने में भी अभी देर है। धैर्य रखकर मैंने उसकी मा की बातें सुनीं।

सुस्ताने के बाद फिर सबको उठना पड़ा। झोला-झोलियों का मृत्यु-यन्त्रणा-दायक बोझ फिर पीठ पर रख लिया। मा और बेटी लाठी टेकतीं-टेकतीं आगे चलने लगीं। फिर वह बुढ़िया बोली—बाबा, अघोर से कहो कि इस तरह तो हम चलकर मार्ग तै नहीं कर सकते, और क्या होगा, दस दिन की देर ही हो जायगी। इस तरह से चलने से तो प्राण ही निकले जाते हैं। दस मील से अधिक रोज चलना तो स्त्रियों के लिए··ऐसा तो अब नहीं होगा!

रास्ते में जूते घिसते-घिसते वे चल रहे थे। दरअसल उनकी हालत जो कोई भी देखता तो उसे यह धारणा होती कि ये कहीं भी विवश होकर रास्ते में गिर पड़ेंगे—कुछ भी विचित्र नहीं!

अन्त में एक समय श्रीनगर के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। मार्ग के पास ही कालीकँबलीवाले का प्याऊ है। बाईं तरफ़ नागफनी के जंगल में से एक सँकरा रास्ता कमलेश्वर महादेव के मन्दिर की तरफ़ चला जाता है। मार्ग के मोड़ पर अघोर बाबू और ब्रह्मचारी प्रतीक्षा कर रहे थे। मा और बेटी हाँफते-हाँफते आकर क्षीण कण्ठ से बोलीं, 'इस तरह से तो हम नहीं चल सकते, सबके शरीर एक जैसे तो हैं नहीं। पैरों को देखो, कैसी शोचनीय दशा हो गई है।'

ब्रह्मचारी बोला—धर्मशाला में पहुँचकर आपके पैरों की मैं अच्छी दवा कर दूँगा मा!

'अच्छा बाबा!' कहकर बहू के मा के साथ आगे बढ़ते ही अघोर बाबू बोले—कमलेश्वर के दर्शन तो नहीं करोगे?

'नहीं।' एक विरक्ति के साथ उनकी बात का उत्तर दिया गया।

सबके आगे बढ़ जाने के बाद मैं और ब्रह्मचारी मन्दिर के दर्शन करने के लिए गये। पर उसमें कोई विशेषता नहीं। पुराना जीर्ण मन्दिर है, भीतर एक प्रकाण्ड शिवलिङ्ग है। पूजा-अर्चना की कोई आयोजना नहीं। मालूम हुआ, पास ही कोई एक गाँव है, क्योंकि बच्चे और मन्दिर के रक्षक दौड़े आये और पाई-पैसों के लिए धक्कमधक्का करने लगे। भारत के प्रायः सभी तीर्थों में भगवान् के बहाने यात्रियों के प्रति ऐसा ही जुल्म किया जाता है। चतुरता और खुशामद द्वारा यात्रियों का शोषण करना इस देश के तीर्थों के पण्डे-पुजारियों का एक प्रधान कार्य हो गया है। उद्विग्न होकर हम वापस लौट आये। मार्ग और अधिक दूर नहीं था, कुछ रास्ता चलने पर दाहिने हाथ की तरफ एक बड़ा अस्पताल मिला। खुश होकर भीतर घुस गये। वहाँ जितने भी रोगी दिखलाई दिये वे सभी प्रायः अकर्मण्य यात्री थे। हमने अर्जी पेश की—पैरों के लिए एक मरहम, नाक के जख्म के लिए थोड़ा वैसलीन पॉमेड, और ब्रह्मचारी के दाँत के लिए एक आयडीन। ये लेकर और चारों तरफ देख-सुनकर हम चले आये। श्रीनगर देखने में एक छोटा और सुसज्जित शहर है। अवश्य यहाँ का हेडक्वार्टर पौड़ी में है जो यहाँ से नौ मील की दूरी पर है। वहाँ पर अदालत, पुलिस, जेल आदि हैं और अफसर रहते हैं। पौड़ी का खूब नाम है। मार्ग में दो सभ्य बंगालियों को देखकर विस्मय हुआ। वे इस हिमालय के गहन राज्य में यहाँ के किसी कालेज में शिक्षा के लिए आये थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बंगाली दिग्विजयी होते हैं। बातचीत के बाद फिर आगे बढ़े। शहर का केवल एक बड़ा पक्का राज-मार्ग है और सौभाग्य से यह मैदान है। दूकानें अनेकों हैं। विलायती और जर्मन माल कम नहीं बिकता। सुनने में आया कि कुछ दिनों पहले यहाँ पिकेटिंग और सभाएँ आदि हुई थीं। रास्ते में एक जगह अब भी १४४ धारा का नोटिस टँगा हुआ था, सभा-समितियाँ बन्द थीं। खोजते-खोजते धर्मशाला में पहुँचे। अन्दर दो बड़े आँगन हैं। सामने एक मन्दिर है, जिसमें सन्ध्या की आरती की आयोजना हो रही थी। धर्मशाला दो मंजिलों की एक बड़ी बैरक है। देखकर बड़ी स्फूर्ति हुई। लाठी के सहारे कुछ दूर घूम आये। रास्ते के ऊपर ही मिठाइयों व अन्य खाने-पीने की चीजों की दो बड़ी दूकानें हैं। अतएव आज खाना बनाने की जरूरत नहीं। पूछने पर मालूम हुआ कि दूकान में चाय का प्रबन्ध भी हो सकता है। तब और क्या, किला फतह

कर लिया। अब पैरों में दर्द नहीं—बद्रीविशाललाल की जय! ओऽम् नमो नारायणाय!—आनन्द में ब्रह्मचारी लट्टू की तरह घूमने-फिरने लगा।

कैसी अनिर्वचनीय आरामदायक रात आ गई। दूध, दही, जलेबी, चाय, उम्दा घी की पूरियाँ, आलू की तरकारी, आदि—सबको एकत्र करके ही भोजन किया गया। भोजन का कार्य जितनी देर चला, ब्रह्मचारी ने आँखें नहीं खोलीं। बोला—दादा, मुँह खोले रहता हूँ, आप जितना चाहें उतना लगेज अन्दर ठूँस दीजिए।

'ब्रह्मचारी, कालरा हो जायगा?'

उच्च कण्ठ से, आँखें बन्द किये हुए ही वह क्षुद्र मनुष्य बोल उठा—दादा, क्या रथ में बैठने से भय लगता है? विश्व रूप दिखा दूँ क्या? आज यह पेट सब कुछ निगल सकता है! मैं दादा, भूखा खटमल हूँ।

भोजन करने के बाद ब्रह्मचारी गीत गाते-गाते ऊपर उठ आया। पास ही पास दो व्यक्ति कम्बल बिछाकर लेट गये। आज ब्रह्मचारी बार-बार 'ओऽम् नमो नारायणाय' कह रहा है। ऐसा लगा कि आज के भोजन से उसके दाँत, होंठ, जीभ और तालू—सभी परितृप्त हो गये हैं। कितनी ही उसने बातें कीं। उस तरफ गोपालदा बुढ़ियों के गोरख-धंधे में घूम रहे हैं। शाम को एक मात्रा अफीम और एक चिलम गाँजा पीने के बाद गोपालदा एक नूतन मूर्ति धारण करते—देव-लोक के पारिजात-कानन में दार्शनिक की तरह भ्रमण करने लगते, उस समय कोई उन्हें उद्विग्न करता तो वह हत्या करने के योग्य समझा जाता। बुढ़ियों की किचिर-मिचिर से बेचारे परेशान हैं। सिर की तरफ एक छोटे घर में अघोर बाबू सपरिवार आ पहुँचे। उनका खाना-पीना खतम हो गया है। उनकी सास और बहू एक बार आकर हमारे भोजन करने और सोने के सम्बन्ध में पूछ गईं।

किन्तु पैरों का दर्द किसी से भी कम नहीं हुआ। कई टोटके, जड़ी-बूटियाँ, अस्पताल की मालिश—किसी से भी कुछ नहीं हुआ। अतएव मन्थिरा हुआ कि रोज पाँच-सात मील ही मार्ग तै किया जाय। कष्ट के समय साधारणतः हम जो कल्पना करते हैं, कार्यक्षेत्र में उनमें परिवर्तन होता है। रास्ते में चलते-चलते सोचा कि मार्ग तै करने के बाद ही शान्ति मिलेगी। श्रीनगर से सुबह चलने के बाद लगभग ग्यारह बजे

हम भट्टी सराय आ पहुँचे। रास्ते में सुकुता नामक एक छोटी-सी नदी और एक चट्टी पार हो गये। भट्टी सराय में मार्ग समतल है; इसी लिए एक समय में आठ मील तै करके आ पहुँचे। पास ही एक नदी है, उसका नाम हर्षवती है और वह अलकानन्दा की ही एक शाखा है। चट्टी के पास एक झरना है। उसी के प्रवाह को बुद्धि के द्वारा मनुष्य ने कैसे अपने प्रयोजन में लगाया है; यह दृश्य यहाँ देखा गया। इसका नाम पनचक्की है अर्थात् पानी और पहिया। लकड़ी के एक पहिये के ऊपर पानी की धारा गिरकर धक्का देकर उसे घुमाती रहती है, ऊपर पत्थर की चक्की लगाई गई है और उसके अन्दर गेहूँ पिसते हैं। बिना परिश्रम किये आटा तैयार होता है। उसकी प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जा सकता। जहाँ तक याद है, इसी भट्टी सराय में गोपालदा के दल की ब्राह्मणी मा के साथ अघोर बाबू का झगड़ा हुआ। कारण, जाति-विचार और शुद्धाशुद्धि। अत्यन्त मामूली कारण से ब्राह्मणी मा की प्रचण्डता देखकर अघोर बाबू की स्त्री स्तम्भित हँसी हँसकर मुख की तरफ़ देखने लगी। ब्राह्मणी मा हमारे सनातन धर्म की साक्षात प्रतिमा थी। जाति-विचार और अस्पृश्यता छोड़ दे, तो वह बचती किस तरह! वह सनकी की तरह अंटशंट बोल उठती, 'किस पाप से तुम्हारे साथ पड़ गई। सूखे कपड़े मेरे क्यों छू दिये? शूद्रों का मिजाज आज-कल बहुत बढ़ गया है!'

अघोर बाबू अपने को न रोक सके। खैर, स्त्री ने आकर समझा दिया और उनसे कहने लगी—छिः, चाहे जो कुछ भी हो, ब्राह्मण की लड़की है, उसकी इज्जत का ख़याल रखना ही चाहिए।

ब्रह्मचारी क्रोध से बड़बड़ाता हुआ बोला वह क्या ब्राह्मणी है मा! वह तो चाण्डाल है।

'छिः बाबा, जो अन्धा है उससे यह कहकर कि उसकी आँखें फूट गई हैं, तिरस्कार करना बड़ा पाप है।'

गोपालदा चुपचाप बैठे रहे, वह किसी के शत्रु नहीं। किन्तु उसी दिन तीसरे पहर हम परस्पर विच्छिन्न हुए। छान्तिखाल की खड़ी और भारी तकलीफदेह दो मील की चढ़ाई पार करके खाङ्करा चट्टी के पास आ गये—उस समय शाम होने में कुछ देरी थी। अन्य स्थानों के मुकाबले थोड़ा मैदान है, पास ही अलकानन्दा की ही एक और शाखा है, उसका नाम पद्मवती है, दूर पर एक मनोरम पर्वत-उपत्यका है तीन तरफ़ गगन-स्पर्शी पर्वत-शिखर हैं, स्निग्ध मधुर वायु है, झरनों की

झंकार है, वन-फूलों की गन्ध। अघोर बाबू की स्त्री बोली—अब और आगे न चलिए, यहीं पर रुकना है न?

मार्ग की तरफ एक बार मुड़कर देखा। प्रायः एक मील दूर पर नदी के मोड़ पर सदलबल गोपालदा का स्पष्ट छोटा-सा शरीर दिखलाई दिया! मन्द गति से चींटियों की कतार की तरह वे चल रहे हैं। दूसरे साथी भी चल रहे हैं। मैं बोला—उन्हें क्या छोड़ दें?

इसपर अघोर बाबू बोले—हो सकता है, हम एक-दो मील पीछे रह जायें लेकिन उसके बाद तो उन्हें पकड़ ही लेंगे। सास बोली—यही ठीक होगा बाबा, तुम्हारा शरीर हमसे भी अधिक खराब हो गया है। हमारे कुली के पास बिस्तर है, वह भी जायगा, तुम्हारे लिए बिछौना बिछा दूँगी। इस समय तुम्हें अब अलग भोजन बनाने की जरूरत नहीं। हमारे साथ ही खाना-पीना हो जायगा। ब्रह्मचारी बोला—आज के लिए उनकी माया-ममता छोड़ दो दादा!

पति-पत्नी सब इस तरफ देखकर विजय की हँसी हँसने लगे। मानो उन्होंने हम पर विजय पा ली है। मैं बोला—आज न हो तो यहीं रहा जाय। किन्तु और दिन इतना थोड़ा मार्ग चलने से काम चलेगा नहीं। यात्रा तो हम जल्दी से जल्दी समाप्त करना चाहते हैं।

'अच्छा, तो खैर आज के लिए ही रह जाओ, मा का अनुरोध भी तो रखना चाहिए।'

मैंने कहा—पैरों के दर्द ने इस समय बड़ा कष्ट दिया है। नहीं तो अनुरोध न मानकर भी मैं चल देता।

स्त्री के प्रति यह अकरुणा-उक्ति सुनकर अघोर बाबू को ऐसा मालूम हुआ कि, कुछ बुरा मालूम हुआ। हँसकर बोले—आपमें विशेष माया-दया नहीं है!

शाम हो गई। पहाड़ के शिखर के पास क्षीण चन्द्रमा दिखलाई दिया, तारे भी आकाश में जगह-जगह छिटकने लगे—सभी के चेहरे जाने किस तरह बदल-से गये। शायद ऐसा ही होता हो। दिन में प्रखर प्रकाश-स्थूल वास्तविकता, मनुष्य का दैन्य और स्वार्थ के प्रति स्थूल घात-प्रतिघात; किन्तु कितना आश्चर्य, रात में सब बदल गये। इस विश्व-प्रकृति को प्रसाधन-परिपाटी में अलंकृत करके मानो उसे किसी ने मनोहर कर डाला है। रात्रि की स्निग्ध ज्योत्स्ना में दिन के आलोक की मानो याद ही नहीं आती।

सास-बहू की परिचर्या में उस रात हम सबने ही आनन्द पाया।

उच्च शिक्षा की एक ऐसी दीप्ति और गम्भीरता बहू के मुख में और आँखों में देखी कि हम दोनों संन्यासी तक, उसकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाये। ब्रह्मचारी तो 'मा-मा!' कहते-कहते उन्मत्त-सा हो उठा। मैंने बाहर बैठकर आकाश के तारे गिनना शुरू कर दिया। वह रात कटी। सवेरे फिर ब्रह्मचारी को साथ लेकर आगे चला गया। प्रथम तीन-चार मील रास्ता हम चुपचाप चल देते हैं। रास्ते में सुबह दूध मिल जाता है, चार-छः आने सेर गरम दूध पीकर फिर चल पड़ते हैं। आज साथ में कोई खास यात्री नहीं थे। जो दो-एक मिले, वे अपरिचित थे। सहयात्री देखकर 'जय बद्रीविशाल' बोलने लगे। चलते-चलते हम चीड़ के जंगल के वायु-प्रवाह की तरह परस्पर एक दूसरे के हाँफने की आवाज सुनने लगे। विशेष कर चढ़ाई चढ़ते समय। आज का मार्ग कहीं-कहीं बहुत सँकड़ा है, यथेष्ट सतर्क होकर सम्हल-सम्हलकर चलने लगे, नीचे की तरफ अति साहसी व्यक्ति भी देखने का दुःसाहस नहीं करता, सिर में चक्कर आ जाने की सम्भावना है, नीचे अतल जलराशि मानों यात्रियों को निरन्तर आकर्षित करने की चेष्टा कर रही हो। पैरों का दर्द सहकर चलने का अभ्यास हो गया है, यन्त्रणा और दुःख शरीर के साथ हिल-मिल गये हैं। सीधे और स्वस्थ रूप में चलना तो भूल ही गये हैं। समस्त दुःख ही मनुष्य को इसी तरह सहनशीलता देते हैं। अपना प्रयोजन सिद्ध करते हुए वे मनुष्य को उपयुक्त करते हैं, खरा बनाते हैं, दुर्गम को सरल कर डालने के लिए उसे वे कठिन बना डालते हैं। निर्मल और परिच्छन्न होकर हमारे चलने का उपाय नहीं, रास्ते के समस्त दाग सारे अंगों में फूट उठे हैं। लोगों की आँखों में हम पहले के वे ही सामाजिक मनुष्य अब नहीं हैं, हमारे सारे शरीर में हिमालय की छाप है, एक तरफ ज्वाला-यन्त्रणा, दूसरी तरफ दुःसह क्लान्ति, फटे-मैले कपड़े, धूल-धूसरित काला शरीर, अन्दर धसी हुई क्षीण और शून्य दृष्टि, रक्तहीन मुर्झाया हुआ रूप—हम परस्पर एक दूसरे के मुखों की तरफ देखकर निःश्वास छोड़ते। मानो हम बिलकुल समाप्त हो गये हों, मानो हमारा दीवाला निकल चुका हो।

उस दिन दोपहर के समय हाँफते-हाँफते हम कई व्यक्ति प्रायः मुमूर्षु अवस्था में अलकानन्दा का पुल पार कर रुद्रप्रयाग आ पहुँचे। विश्राम, कहीं कुछ विश्राम लेना चाहते हैं। लाठी टेकते-टेकते एक धर्मशाला की ऊपरवाली मंजिल में बैठ गये। अब तबियत नहीं, रुचि नहीं—और उठ भी नहीं सकते। एक बार चीत्कार करके मार्ग के

इन दुःखों का प्रतिवाद करने लगा—किन्तु ठहरो, पहले थोड़ा सो लें। सब चूल्हे में जाय, सब ध्वंस हो जाय—इसका क्या प्रयोजन था, कोई आज कह सकता है? हम क्या चाहते हैं? इन दुःखों का अन्त जिस दिन होगा, उस दिन हमें क्या मिलेगा? दरिद्र की तरह दीनता और मलीनता को लेकर हम क्या भिक्षा माँगने आये हैं!

आँखों की पलक बन्द कर सो गया। ओहो, यही अच्छा है। और आँखें खोलकर नहीं देखा, ताकि कोई देखने में न आ सके। सब मिट जाय, दूर हो जाय, इन पुण्य-लोभी तीर्थकीटों के प्रति और कोई श्रद्धा नहीं, माया नहीं। और कहीं न जाऊँगा, काफी शिक्षा मिल चुकी है, इस बार यहीं सदा के लिए मिट्टी में पड़ा रहूँगा।

किन्तु हाय रे निर्लज्ज शरीर, फिर स्निग्ध मधुर हवा के स्पर्श से धीरे-धीरे सजीव और सचल हो उठा! धर्मशाला के नीचे ही गहरी, नीली अलकानन्दा का कलकल्लोल है, फिर क्यों न आँखें खुल पड़ें? सूर्य के प्रकाश में चमकती जल-धारा के ऊपर पर्वत-शिखर की श्यामल छाया उतर पड़ी है—अरे मन, देख तो सही। गौर से देख—शरीर अब कातर नहीं, दृष्टि अब क्षीण नहीं, व्यथा नहीं, विक्षोभ नहीं—क्या ऐसा और कहीं देखा है! यह तो केवल रूप नहीं, यह तो रूपातीत है; केवल सौन्दर्य नहीं, लोकोत्तर व्यञ्जना है; केवल काव्य नहीं, सुदूर अनिर्वचनीयता है। जल, मिट्टी, वृक्ष, प्रकाश और आकाश—इनको छन्द के अन्दर लाकर और फिर भाव-रूप देकर, व्यञ्जना की ओर इंगित करके—यह सबकी अपेक्षा बड़े शिल्पी, सर्वोत्तम स्रष्टा का कलात्मक कार्य है। अरे मन! खूब अच्छी तरह देख!

धीरे-धीरे उठकर बैठ गया, मानो हड्डियाँ टूट-फूट जाने से पंगु हो गया, पैरों में अब हाथ नहीं लगाया जाता, जैसे बड़े-बड़े फोड़े उठे हों। यही रुद्रप्रयाग है। एक मामूली शहर, उस पार पहाड़ की गोदी में छोटे-छोटे दो सरकारी बँगले, दक्षिण में अलकानन्दा और मन्दाकिनी का सङ्गम-तीर्थ है। एक नदी देव-लोक की और दूसरी ब्रह्मलोक की। इसी नदी के संगम में एक दिन गये राजा के यज्ञ में असन्तुष्ट परशुराम के शाप से ब्रह्म-राक्षस योनि प्राप्त दो लाख ब्राह्मणों की मुक्ति हुई थी। यहाँ पर रुद्रेश्वर का शिव-मन्दिर है। धर्मशाला, सदाव्रत, डाकखाना और एक छोटा-सा बाजार है। रुद्रप्रयाग में मार्ग के दो भाग हो गये हैं। एक रास्ता कर्णप्रयाग होकर अलकानन्दा के किनारे-किनारे बद्रिकाश्रम की ओर चला गया है। और एक मार्ग मन्दाकिनी के किनारे-किनारे

केदारनाथ की तरफ चला गया है। हम प्रायः सौ मील पार करके आ गये हैं। भीतर चारों तरफ देखा, मानो मृत्युपुरी है। कोई ज्वर से पीड़ित है, किसी को पेट की शिकायत है, कोई-कोई यात्री अकर्मण्य हो गया है, मुँह और आँखों पर मक्खियाँ बैठती हैं, किन्तु वह निश्चेष्ट और निःस्पन्द पड़ा है, यदि मृत्यु हो जाय तो शव ले जाने के लिए लोग नहीं। फिर भी इसी तरह ये लोग चलते हैं, लँगड़ाते-लँगड़ाते रेंगकर, छिपकली की तरह पहाड़ पर चढ़कर, रास्ते में जगह-ब-जगह रोग और यन्त्रणा से जर्जरित होकर कई लोग रुक जाते हैं। सहयात्री एक बार मुँह फिरा उदासीन होकर 'अहा' कहकर चले जाते हैं। मालूम होता है कि बाबा (बद्रीनाथ) की दया नहीं हुई है।

दिन तीसरे पहर की तरफ झुका। जो केदारनाथ की तरफ जाने में डरते हैं, वे सीधे बद्रीनाथ की तरफ यात्रा करने जाते हैं। केदारनाथ का पथ भयानक है। केदारनाथ का दर्शन करने जाने के लिए और भी अस्सी मील रास्ता तै करना पड़ता है। रुद्रप्रयाग के सङ्गम में ही यात्रियों की पुण्य-कामना की अग्नि-परीक्षा होती है। जो शरीर से भयभीत, अशक्त और दुर्बल होते हैं, यात्रा का उत्साह जिनमें नहीं रहता है, जिनका रोग की स्याही से शरीर काला हो जाता है, वे केदारनाथ के मार्ग की तरफ फिरकर भी नहीं देखते, वे कर्णप्रयाग की तरफ चले जाते हैं। उनके पक्ष में केवल बद्री है, केदारबद्री नहीं। मैंने भी केदार परित्याग करने का इरादा कर लिया। किन्तु घटना का प्रतिघात दूसरी ही तरह का हो गया। तीसरे पहर एक निकृष्ट श्रेणी की बंगाली स्त्री हठात् खोजते-खोजते पैरों के पास आकर रो पड़ी—ओ बाबा! रक्षा करो बाबा! रक्षा करो बाबा! मेरी गुरु-माता के बचने का और कोई उपाय नहीं। तुम्हारे बारे में रास्ते में सुनती-सुनती यहाँ आई हूँ बाबा...हमारा और कोई धन नहीं!

पहले तो वह जोर-जोर से रोने लगी, रोना-धोना जब बन्द हो गया तब उसने रुक-रुककर, वह सारी घटना सुनाई जो घटी थी। उसके कथनानुसार माता और कई शिष्याएँ कलकत्ता उल्टाडिङ्गि वोस्टम के अखाड़े से आये थे, सेठजी के बगीचे में उनका अखाड़ा है, सब लोग ठीक चले आ रहे थे, लेकिन परसों रात को किसी एक चट्टी से अन्धकार में गुरु-माता चट्टी के दरवाजे से किसी काम से बाहर निकलीं। अचानक पैर फिसल गया और वह पहाड़ से नीचे गिर पड़ीं। उलटती-पलटती वह एक गड्ढे में जाकर अटक गईं। चट्टी के लोग उसकी

तलाश में उतरे। देखा तो गुरु-माता के सारे शरीर की हड्डियाँ चकनाचूर हो गई हैं और शरीर खून से लथपथ और बेहोश हो गया था।

पैसा-टका जो कुछ था, उससे कठिनता से एक कांडी का आयोजन कर बूढ़ी को श्रीनगर के अस्पताल में ले जाया गया, वहाँ प्राथमिक चिकित्सा तो होती है, किन्तु स्थानाभाव के कारण अस्पताल के कर्मचारी रोगी को रखना नहीं चाहते, कुछ दवाएँ साथ में रखकर रुद्रप्रयाग भेज दिया। '—आओ बाबा, तुम्हारे दोनों पावों पर पड़ती हूँ, कुछ व्यवस्था कर दो।' फिर वह जोर-जोर से सिसकियाँ भरने लगी।

घटना अवश्य ही सब सत्य थी। नीचे आकर देखता हूँ तो बूढ़ी यन्त्रणा से हृदय-विदारक चीत्कार कर रही है। समस्त जीवन धर्माचरण से बिताकर और शिष्या के कान में मन्त्र फूँककर, इस सर्वश्रेष्ठ तीर्थ के पथ पर आकर एक नारी की यह शोचनीय गति! किन्तु जीवन में ऐसा ही तो होता है। अपराध नहीं, फिर भी दण्ड है, पाप नहीं, फिर भी एक मुक्तिहीन प्रतिफल है, कारण नहीं, फिर भी दुःख और व्यथा का एक दुर्भोग रहता है। किन्तु चुपचाप खड़े रहने का समय नहीं, समय बीता जा रहा है, अतएव लाठी के ऊपर अवलम्बन कर, लोगों को बुलाकर उन्हें बूढ़ी की अवस्था से परिचित कराया। एक स्थानीय युवक और अघोर बाबू ने उस दिन खूब सहायता की। बाजार में, पथ में, घाट में और यात्रियों के पास में घूम-घूमकर मनुष्य के जीवन की आकस्मिक विपत्ति के सम्बन्ध में ओजस्विनी भाषा में वक्तृता देकर, अन्त में श्रोताओं के दुर्बल मुहूर्त के समय चतुरता के साथ भिक्षापात्र बढ़ाया। हमारी जाति भिखारियों की जाति है, अतएव अपमान का तो मैंने अनुभव किया नहीं, वरन परोपकार के आवरण से ढककर उसको महत्व का एक बड़ा खोल पहिना दिया। धेला, पैसा, आना दो आना, अठन्नी—किन्तु पूरा एक रुपया किसी ने दिया नहीं। मैंने खयाल किया कि दोष मेरा ही है, शायद एक रुपए मूल्य की वक्तृता मैं दे ही नहीं सकता, सोलह आने मूल्य एक साथ मिला नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि जीवन में निस्स्वार्थ परोपकार करने का यही प्रथम सुयोग मैंने पाया है, अतएव इसको यों ही नहीं छोड़ा जा सकता था, यात्रियों के पास से अर्थ-शोषण के कार्य में चिपट गया। अन्ध आवेगपूर्ण और साहित्यिक हिन्दी भाषा में उस दिन मानवीय नीतिबोध, धर्मानुभूति और परोपकार की प्रेरणा के सम्बन्ध में जैसा उत्तेजनामूलक व्याख्यान दिया, वैसा राजनीति की दिशा में मुड़ने से शायद ये

पैंतीस कोटि देशवासी ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर उठते।

किन्तु इतना करने पर भी पन्द्रह रुपये की आवश्यकता में से साढ़े बारह रुपये से अधिक चन्दा जमा न हो सका। बाकी हम लोगों को ही पूरा करना था। अघोर बाबू की पत्नी हँसकर बोलीं—आप क्या! लोग अपनी माताओं के लिए भी इतना कष्ट नहीं उठाते। हाँ, आज अपने यहाँ आपके भोजन की व्यवस्था कर रही हूँ, खाओगे न? आज तो मैं और कुछ न सुनूँगी।

'यथायोग्य मूल्य ले लिया जायगा, कहिए?'

'यदि दे सके तो देंगे। इस बात को न भूलियेगा कि जो कुछ देंगे उससे केवल खाने के दाम ही वसूल होंगे।'

अघोर बाबू स्त्री की ओर एक बार देखकर मुझसे बोले—आप बड़े निर्दय हैं, महाशय।

रुपये एक शिष्या के हाथ में गिनकर, वृद्धा को आगामी प्रातःकाल उखीमठ अस्पताल में डाँडी से भेजने की व्यवस्था कर जिस समय हाँपते-हाँपते ऊपर उठ आया, उस समय निश्चय ही रात के दस बज गये होंगे। प्रायः सभी यात्री उस समय घोर निद्रा में अचेत पड़े थे। इस समय ब्रह्मचारी दिखाई दिया! मौके पर वह कहाँ अदृश्य हो जाता है, समझ में नहीं आता। जल्दी-जल्दी खाना खाकर चुपचाप अलग ले जाकर वह बोला—दादा, गाना सुनोगे?

गाना! मृत्यु से घिरे इस महा दुर्गम में कौन गाना गाता है? पीड़ितों का निःश्वास सुन रहा हूँ, जर्जरितों का विलाप सुन रहा हूँ, गाना तो सुनाई नहीं देता। विस्मित होकर मैं बोला—गाना कहाँ हो रहा है, ब्रह्मचारी?

'आइए मेरे साथ' कहकर वह हाथ पकड़ ले गया।

पथ निःस्तब्ध। कहीं भी प्रकाश का चिह्नमात्र नहीं। आँखें उस समय निद्रा से भारी हो गई थीं, शरीर बहुत थक गया था, तब भी जाना ही पड़ा। रास्ते में घूमकर सीधा वह नदी के संगम की धारा के पास आकर बोला—उतर आइए, यही जो पक्की सीढ़ियाँ हैं।

'कहाँ जायेंगे, यह जो नदी है? नदी का ही गाना तो?'

'कहता हूँ, सीढ़ियों से उतर आइए।'

लाठी के ऊपर शरीर का भार रखकर, पाँवों की व्यथा लेकर कई सीढ़ियाँ नीचे उतरा। इसके बाद दिखाई दी सुन्दर ज्योत्स्नामयी रात्रि। स्वच्छ सुस्मित नील आकाश में तारे चमक रहे थे। दोनों नदियों के

घात-प्रतिघात से जल का प्रबल गर्जन, कानों से सुना नहीं जाता था। तब भी उस शब्द को अतिक्रम करने पर मन में लगता था कि आज बहुत सुन्दर प्रशान्त रात्रि है। आज सोना उचित नहीं, नदी-पर्वत और ज्योत्स्ना की ओर एकान्त मन से देखकर आज की रात इसी तरह काटनी उचित है। उसी स्वप्नमय रात्रि में नदी के गर्भ की ओर इशारा कर ब्रह्मचारी ने कहा—आइए मेरे साथ, इसी बायें हाथ की ओर...

सीढ़ियों के पास ही पहाड़ की ढालू भूमि पर एक अधपक्की कुटी थी। ब्रह्मचारी के पीछे-पीछे उसके भीतर आ घुसा। एक कोने में एक प्रकाश टिमटिमा रहा था। बाघ और भालू की खाल के तीन-चार आसन बिछे हुए थे, उसी में से एक के ऊपर एक भारी-भरकम बूढ़ी संन्यासिनी बैठी हुई थी, नवागंतुक को देख हँसकर सस्नेह उसने कहा—आओ बेटा!

उसके चरणों के पास जाकर बैठकर प्रणाम किया। ऐसा जान पड़ा कि आने के पहले ही ब्रह्मचारी ने मेरे बारे में इनसे बातचीत कर रखी है। अभी तक नहीं देखा था, पास ही में एक शीर्णकाय वृद्ध हाथ में एक एकतारा लेकर बैठे हुए हैं, सन्त के समान यही गायक हैं। आदर-सत्कार में कमी नहीं हुई, अनेक तीर्थों के बारे में बातचीत होने लगी। संन्यासिनी नारायण गिरि माई ने कैलाश जाने के लिए परामर्श दिया, आषाढ़ मास ही कैलाश जाने के लिए उपयुक्त समय है, इस बार के सुयोग्य को हाथ से न जाने दिया जाय। विनय और भक्ति के साथ उनकी वाणी सुनता जा रहा था। घर के भीतर माल-असबाब के रूप में ये ही चीजें थीं—रुद्राक्ष की कई मालाएँ, दो शंख, लकड़ी के कई कटोरे, चार-पाँच कम्बल, पत्थर के कई बर्तन, कई ताम्रपात्र और फूल, मोटी-मोटी तीन किताबें और आग रखने का एक ठीकरा। माईजी (संन्यासिनीजी) के साथ खूब बातचीत होने लगी, सभी ने भाग लिया, माईजी के लिए तो सभी बेटा-बेटी थे—बहुत अच्छा मालूम हुआ। प्रकाश टिमटिमा रहा है, दरवाजे के पास आकाश से चाँदनी की एक झलक आ पड़ी है, माईजी अपनी मनोरम लालित्यपूर्ण हिन्दी और उर्दू भाषा में अपने बहु-तीर्थ-भ्रमण की, अभिज्ञता की कथा कहने लगीं। कहाँ किस नदी के किनारे हिंस्र जंगली जानवर विचरते हैं, किस मरुभूमि में से अपरिचित दुर्लभ पथ कहाँ गया है, किस अनजान पर्वत-चोटी के तुषाराच्छन्न पथ में झब्बू और घोड़े की पीठ पर सवार होकर उनको कभी कैलाश जाना पड़ा था, ये सब बातें उन्होंने अपनी

रहस्यमय और चमत्कारपूर्ण कहानी में कहीं। बात करते-करते एक समय वह भीतर की ओर ताककर बोलीं—चिलम बना दो रज्जी, ए सुना ?

भीतर से आवाज आई 'देथे माई !' और उसी के दो मिनट बाद दो तरुणी संन्यासिनियाँ धीरे-धीरे बाहर आईं। पहली माई के पास आकर बैठ गई और दूसरी पीतल से मढ़ी एक बड़ी पतली चिलम को तैयार कर माईजी के हाथ में देकर दूसरी के पास जाकर बैठ गई। भीतर की आबहवा थोड़ी देर के लिए न जाने कैसे बदल-सी गई। पहले ही मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ये दोनों फूल एक ही टहनी के हैं। सिर पर जटाओं की लम्बी वेणी, मुख में संयम की एक स्निग्ध दीप्ति और कठोरता, देह बलिष्ठ और दीर्घाकार, वस्त्र गेरुए रंग में रंगे और चारों चक्षुओं में निर्विकार और निःस्पृह शून्य दृष्टि। उनकी ओर एकबार ताक कर ब्रह्मचारी ने दियासलाई जलाई, माईजी ने चिलम में जोर का एक क़श लिया। हाँ, जोर से ही लिया। जिस समय धुआँ छोड़ा तो कुटी के भीतर उस समय अन्धकार हो गया। सबके हाथों में चिलम एक बार घूमकर सोनी और रज्जी के हाथों में पहुँच गई। उनका अकुण्ठित धूम्रपान देखकर मैं चकित हो गया। इस समय वृद्ध के गाने की बारी थी। एकतारा को ठीककर उन्होंने धीरे-धीरे कंठ की आवाज़ उठाई, गाना तो उनका चमत्कारपूर्ण था। मुग्ध श्रोताओं का दल चुपचाप कान लगाकर बैठा रहा, केवल बीच-बीच में चिलम एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने लगी। किन्तु समस्त वातावरण में एक विस्मय निहित था। यह मानों एक कल्पित रूप-कथा थी। हम नवागत विदेशी थे, वृद्ध गायक भी सन्तवत् नवीन परिचित थे, सामने यही ममतामयी आश्रयदात्री थी, उसके दोनों ओर लक्ष्मी और सरस्वती। इन तीनों नारियों के घर-द्वार, उनकी जीवन-यात्रा, उनका आचार-व्यवहार, कहाँ से वे आई हैं, ये कौन हैं और क्या हैं, इनके जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, इस प्रकार की नाना समस्याओं में मैं उलझा रहा। फिर भी आज उनकी कहानी लिखने में पूरी सचाई से स्वीकार करूँगा कि उस ज्योत्स्नामयी सुन्दर रात्रि में उस रहस्यमय क्षुद्र कुटी के स्वल्पालोकित परिवेष्टन के बीच में संन्यास जीवन के एक अपूर्व संयम और उसकी श्री ने सबके मुखों को निर्मल और उदासीन कर रखा था ; अत्यन्त सहज-सरल सौजन्य और उदासीनता लेकर हम सभी दो व्याघ्रचर्मों के ऊपर बिलकुल पास-पास बैठे थे। उस दिन भी परिचय प्राप्त नहीं किया, आज तो हम अज्ञात हैं—

ये दो तरुणियाँ कौन हैं, माईजी से उनका क्या संबंध है, उनका रास्ता कहाँ है, इस कुटी और इस आश्रम को भी तो वे छोड़कर शीघ्र चली जायेंगी ; किन्तु कहाँ ? जीवन उनका केवल शून्य है ? केवल एकान्त लक्ष्यहीन है ? उनकी समस्त जीवन-व्यापी पथ-यात्रा की परम सार्थकता क्या है ?

गाना बन्द हो जाने पर माईजी को प्रणाम कर, बोझिल मन से विदा ली। हाँ, यह स्वीकार करने में लज्जा नहीं कि मेरा क्षुद्र मन कौतूहल से भर उठा। केवल कौतूहल से ही, चन्द्रिका-प्रकाशित निःस्तब्ध रात्रि के चरणों के पास खड़ा परिश्रान्त और पंगु पथिक मैं—मैं क्या शपथ लेकर कह सकता हूँ कि मेरे मन में केवल कौतूहल था, वेदना बिन्दु मात्र भी नहीं थी ? मूढ़ विपथगामी संन्यासी मैं, मैं भी यह जानता हूँ कि जीवन की व्यर्थता का रूप कैसा होता है ! सुख, ऐश्वर्य, आनन्द, संभोग, रस-पिपासा—'जीवन अनित्य है' यह कहकर ही तो इनका इतना प्रयोजन है, इतना प्रलोभन है ! समस्त जीवन लगाकर कठिन वैराग्य और भयावह शून्यता को प्रकाशित कर रही हो, तुम नारी हो, तुम विश्वसृष्टि के अनन्त स्रोत को प्रतिहत कर रही हो, प्रकृति के नियम का अपमान कर रही हो, ध्वंस की निष्ठुरता को संसार में लाई हो, रूप और सौन्दर्य का गला दबाकर उनकी हत्या कर रही हो !

एक हाथ में लाठी लेकर और दूसरे हाथ से ब्रह्मचारी के कन्धे का सहारा लेकर, पाँव घसीटते-घसीटते ऊपर उठा। ब्रह्मचारी मुख की ओर देखकर बोलने लगा—आपको यह क्या हो गया है दादा, आपको न लाना ही ठीक था, यह मैंने नहीं सोचा।

दूसरे दिन फिर कठिन पैदल-यात्रा। ब्रह्मचारी साधारण गति से चल रहा है, अघोर बाबू आगे चल रहे हैं, सास और बहू कष्ट से चल रही हैं। बन्धुत्व एवं आत्मीयता कुछ घनिष्ट हो गये हैं। अघोर बाबू को खुशी हो रही है, बहू ने बड़ी बहिन के समान व्यवहार करना प्रारम्भ किया है। उनकी आँखों और मुख में सस्नेह हँसी थी, बातचीत में आन्तरिकता, दोनों हाथों में सहोदर की सेवा और सुख-दुःख का ध्यान। उनको साथ में पाकर कोई भी यात्री अपना सौभाग्य समझेगा। छतोली और मठचट्टी पार करने के बाद दोपहर की धूप में थके हुए हम रामपुर चट्टी पहुँचे।

किन्तु एकाएक विपत्ति सामने आ खड़ी हुई। सास के पाँवों में एक बड़ा छाला पड़ गया। चलने में उनको भारी कष्ट होने लगा। सभी

अत्यन्त दुःखी हुए। साथ ही और एक घटना घटी। ब्रह्मचारी और अघोर बाबू नीचे खड़े होकर बात करते-करते एकाएक गरम-से हो उठे। बहस-मुबाहसे में ही अघोर बाबू ब्रह्मचारी के प्रति व्यक्तिगत आक्षेप कर बैठे। यही न कि ब्रह्मचारी आलसी और आरामप्रिय है, खाने-पीने के समय के अतिरिक्त और समय वह नहीं दिखाई देता। मालूम होता है कि इससे ब्रह्मचारी के आत्मसम्मान को ठेस लगी, क्षुब्ध होकर वह बोला—महाशय, मैं किसी की परवाह नहीं करता, यदि खाने को देते हो तो उसका यह मतलब नहीं कि आप मेरा अपमान करें।

अघोर बाबू कह उठे—आपके समान मनुष्यों को मैं जानता हूँ।

अतएव ब्रह्मचारी चल देने को उद्यत हुआ। भगवान् में पूर्ण विश्वास होने से 'दिन कट ही जायेंगे'—यह कहकर उसने चलने की तैयारी शुरू कर दी। मुझको भी चला जाना होगा—पहिले तो इतना ही रास्ता रोज तय करने से मेरा काम नहीं चल सकता, दूसरे ब्रह्मचारी को छोड़ देना भी कठिन है। भोजन तैयार कर चुका था, किन्तु ब्रह्मचारी आज खाने को राजी नहीं हुआ, नीचे दुकानवाले से आटा लेकर और जल में घोलकर उसे खाकर वह बोला—मैं यहाँ इन्तजार कर रहा हूँ, आप चले आइए। नहीं तो चला जाऊँ दादा, क्या बोलते हैं ?

जान पड़ा कि वह एक क्षण भी यहाँ रहना नहीं चाहता, क्रोध से वह काँप रहा था। मैंने कहा—जो सुविधा हो करो।

तेज धूप से तपता हुआ वह रूखा दिन आज भी मेरी आँखों में चमक उठता है। भोजन करने के बाद निरुपाय होकर विदा लेने के लिए गया। अघोर बाबू दुःखित होकर बोले—आपके साथ में होने से हमें खुशी होती, वह जाता है तो जाने दीजिए, हाँ, यह जरूर है कि आपको जल्दी जाना है, क्या करूँ बोलिए, इन्हीं की वजह से मुझको इतना आहिस्ते-आहिस्ते ⋯

सास-बहू के पास विदा लेने गया। थोड़ा भीतर जाकर देखता हूँ कि मा और लड़की भात लेकर सिर्फ बैठी ही हैं, किन्तु शुरू हुआ नहीं है। लड़की ने कहा—आप चले जा रहे हैं इसलिए मा की आँखों से आँसू टपक रहे हैं।

'क्यों ?'

'क्यों ?' कहकर उसने भी मुँह उठाकर देखा, पर उसकी आँखों की ओर नहीं देखा जा सकता था। मैं बोला—क्या करूँ, बतलाइए

तो, जाना तो मुझको जल्दी है ही, शायद फिर कभी आपके साथ भेंट हो...

जान पड़ा कि बहू की आँखें अपने को अधिक न रोक सकीं, वे भी डबडबा आईं, रुद्ध कण्ठ से बोलीं—मेरा केवल एक छोटा भाई था, वह भी आपकी ही तरह था.. वह अब नहीं है! मा, लड़के के साथ तुम बातचीत करो।

मा ने मुख उठाकर देखा। मैं बोला—अपना पता ही बतला दीजिए, यदि स्वदेश लौटा तो कभी...

'ठिकाना तो बतलाने का उपाय नहीं है भाई!'

विस्मित होकर मैंने पूछा—क्यों?

अस्फुट स्वर में मा बोली—खैर, जो भी हो, पता तू ही बतला राधारानी, हम मा-बहिन जितनी भी अयोग्य हों!

नाटकीय प्रदर्शन के लिए मेरे पास समय नहीं था। 'अच्छा, तब आप बैठिए।' कहकर मैं झुका और नमस्कार करने ही को था कि अघोर बाबू की स्त्री ने हाथ पकड़ लिया। बोली—नहीं बोल सक रही हूँ भाई, नारियों के अपमान की कथा कहने को मुँह खुलता ही नहीं, तब भी तुमसे नहीं छिपाऊँगी, नहीं तो बद्रीनाथ-यात्रा मेरे लिए मिथ्या होगी।

हम सभी ने परस्पर एक दूसरे के मुख की ओर एक बार देखा। लड़की और माता ने माथा झुका लिया, और उसी तरह नतमस्तक होकर ही अघोर बाबू की स्त्री ने भरे गले से कहा—मैं तुम्हारी बड़ी बहिन हूँ, किन्तु मैं नरक की कीट हूँ। मैं...मैं वेश्या!

दोनों कान झन-झन करने लगे। बोला—क्या कहती हो!

कोई उत्तर नहीं, और उत्तर सुनने से पहले ही घर छोड़कर पत्थरों की सीढ़ियों को पारकर नीचे उतरकर किस तरह मैं भागा, उसका खयाल कर आज भी आश्चर्य होता है, मैं नीति का ज्ञाता नहीं हूँ, वेश्या को वेश्या समझकर ही मैं नहीं चौंक पड़ता, साहित्यिक की उपयोगी उदारता में भी मैं किसी से कम नहीं हूँ, किन्तु इतना बड़ा आकस्मिक आघात—मेरे समस्त जीवन के ऊपर मानो किसी ने सपाक से एक जोर का चाबुक मारा! लँगड़ा पाँव, भग्न देह, पीठ पर बोझा, सिर के ऊपर सूर्य की अग्नि-वृष्टि, पत्थर व कंकड़ों से भरा ऊँचा-नीचा रास्ता, गले के भीतर मरुभूमि, तब भी मील के बाद मील चल रहा हूँ, ब्रह्मचारी कहाँ है, कहीं उसका चिह्न भी नहीं है! उस दिन क्यों भागा, निःश्वास क्यों बन्द हो गया, यह आज भी मेरे लिए आश्चर्य की बात है। भागने की

भरपूर चेष्टा की। ऐसा मालूम पड़ा कि पृथ्वी के प्रकाश-वायु-विहीन कारागार में मैं बन्दी हूँ!

झोला-झंझट उतारकर एक स्थान पर बैठ गया। किन्तु बैठने की शक्ति भी और नहीं थी, देह फैलाकर सो गया। आह, मानो अब उठना नहीं है, सब दुःखों के अवसान आ जा, ओ प्रशान्त मृत्यु! छाया नहीं, मुख के ऊपर कड़ी धूप पड़ने लगी; जल नहीं, हृदय हा-हाकार करने लगा। किन्तु यह कैसी अशान्ति, कैसी चञ्चलता! दुर्बल चित्त आज की घटना को स्वीकार करना क्यों नहीं चाहता? क्या यह सत्य है कि श्रद्धा और सम्मान से जिसकी पूजा की, वह मूर्ति आज चूर्ण-विचूर्ण होकर धूल में मिट रही है? हे सत्यनारायण सूर्य, तुम तो जानते हो, उसमें कोई मलिनता नहीं है। सेवा-शुश्रूषा, स्नेह, दाक्षिण्य और व्यवहार में वह तो किसी संभ्रान्त भद्र महिला से कम नहीं है, तब भी वह पतिता क्यों? उसमें कोई छलना नहीं, मोह-जाल नहीं, वासना का कोई अभद्र इंगित नहीं—वह तो संसार में किसी से हीन नहीं है, अनुपयुक्त नहीं है! हे सूर्यदेव, तुम बतला दो! तुम आज बतला दो, राधारानी क्या वेश्या है?

तीसरे पहर की धूप म्लान हो आई। सोये हुए ही, बहुत बेचैनी से लोटते-पोटते एक बार क़ै की। तब भी, एक बार धूल व बालू में बैठे-बैठे, आँखों के आँसुओं में किम्भूत किमाकार चेहरा लेकर चलना प्रारम्भ किया। अगस्त्य मुनि का मन्दिर और सौरी चट्टी पार हो गई। धीरे-धीरे सन्ध्या घनी हो आई, रास्ते में और कोई साथी नहीं दिखाई दिया। आकाश में चन्द्रमा दिखाई देना चाहिए था, किन्तु देखते-देखते मेघ घिर आये और नमीभरी हवा बहने लगी। मन में आशा है कि चन्द्रापुरी चट्टी में ठीक आज पहुँच जाऊँगा। शरीर दुर्बल है, हवा के साथ हिल-डुल रहा है। चारों ओर से अन्धकार घना हो गया। नींद के प्रभाव में मानों रास्ता चल रहा हूँ। पथ की रेखा कुछ दूर तक दिखाई दे रही है, उसके बाद सब कुछ अदृश्य हो गया है। ब्रह्मचारी कहाँ है? अब और पर्याप्त साहस नहीं होता, ऊपर मेघाच्छन्न आकाश में चन्द्रलोक बुझ गया है, इतने अन्धकार में किसी दिन नहीं चला, बाईं ओर नीचे वन-वेष्टित नदी कल-कल करती बह रही है, दक्षिण में और सिर के ऊपर पहाड़ के बाद पहाड़ अरण्य के अन्धकार से घिरे हुए हैं—शरीर इस बार काँप उठा। अपने पाँवों के शब्द से ही बार-बार निर्जन में चकित हो उठता है। लाठी के ऊपर ज़ोर देकर साहस नहीं पा

रहा हूँ। भय से कान के भीतर झनझनाहट होने लगी। पाँव काँप उठे। यह क्या, यह कहाँ? नदी का नष्ट किया हुआ पथ खो गया! मन्दाकिनी और चन्द्रा नदियों का संगम, किन्तु किस दिशा को जाऊँ? भयंकर गर्जन से हू-हू करती हुई अतल और विस्तृत नदी बहती चली जा रही है, देखते-देखते पथ का चिह्न भी अदृश्य हो गया। ऐसा बोध हुआ कि मुख से एक शब्द निकल गया। मुख मानो किसी दूसरे का हो। शरीर काँप रहा है, देह का रक्त भय से क्षण-क्षण में कोलाहल कर उठता है, गला सूखकर काठ हो गया है, दोनों घुटनों में अब कोई शक्ति नहीं रह गई है—नितान्त दस वर्ष के बालक की भाँति निरुपाय होकर इस पथ के किनारे खड़े रहते-रहते आँसुओं से मेरी दृष्टि म्लान हो गई। इस प्रकार हिंसक जंतुओं से भरे अरण्य और नदी के गर्भ में असहाय रूप से मरने की मेरी कभी इच्छा नहीं थी। विपत्ति में पड़कर भगवान् को पुकारने की बात भी मैं भूल-सा गया, उसी तरह भूल गया जीवन की तुच्छता की बात।

वास्तव में जिस दिन मौत आती है उस दिन हम यह देखते हैं कि जीवन को हम कितनी तरफ़ से प्रगाढ़ आलिंगन में बाँधे हुए हैं। हाय रे संन्यास, हाय रे निष्फल वैराग्य!

'कौन है?'

हठात भय से चौंककर मैं थर-थर काँप उठा। एकाएक किसी की आवाज सुनकर हृदय धक-धक करने लगा। एक छायामूर्ति चुपचाप कबसे पास में आकर खड़ी हो गई है, लाठी को इच्छानुसार चलाना चाहा, लेकिन हाथ की लाठी शिथिल हो गई। जोर-जोर से साँस चलने की आवाज सुनकर यह धारणा हुई कि यह छायामूर्ति मनुष्यमूर्ति है। कम्पित कण्ठ से बोला—तुम कौन हो?

'मैं जनाना!'

स्त्री! अन्धकार में उसके मुख के पास जाकर देखा। धीरे-धीरे लाठी के ऊपर जोर आया, सीधा होकर खड़ा हुआ। कौन कहता है मैं 'नर्वस' हूँ! जहाँ तक मैं समझ पाया, लड़की पहाड़ी थी, उम्र अधिक नहीं थी, गले में उसके कई रुद्राक्ष की मालाएँ थीं, सिर के ऊपर बालों के ऊपर एक बड़ा पट था, सन्तों की भाँति गेरुआ वस्त्र पहिने थी, दोनों हाथ में फूल और रुद्राक्ष के गहने थे, दायें हाथ में कमण्डलु और बायें हाथ में एक शिंगा था। नंगे पाँव। चकित और चंचल लड़की।

'क्या देखता है, साधुजी ?'

'तुम जनाना हो ?'

'जी ! यहाँ तुम क्यों खड़ा हुआ है ? कहाँ जाओगे ?'

'चन्द्रापुरी जाना है, रास्ता छूट गया ।'

'अच्छा, परदेशी ! आओ मेरी साथ, बतलाते हैं ।' यह कहकर भैरवी आगे चलने लगी । किन्तु वह भी पथ नहीं था, मैंने देखा कि एक लीलायित भंगी से नदी की विच्छिन्न शाखा को पार कर जल की ओर वह उतरने लगी । आश्चर्य, मानो उसके लिए कोई बाधा-विपत्ति नहीं है, मानो उसके लिए यह पथ घर के आँगन की तरह ही परिचित है, मुड़ती-झुकती, हिलती-डुलती, हँसती-नाचती आनन्द से वह उतरने लगी । अत्यन्त कष्ट से चुपचाप, सतर्कता से उसका अनुसरण कर नीचे उतरने लगा । बहुत दूर तक उतरने के बाद शेष सारी नदी को ही वह हठात् उछलकर पार कर गई—उसके भीतर मानो प्रचंड रक्तधारा थी, प्राणों की बाढ़ थी, नदी की क्रीड़ा थी ! उसको लगे तीन मिनट और मैं उतरा दस मिनट में । नदी से उतरकर सतर्कता से दोनों जने चलकर जल पार कर इस पार आये, वह आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे । पास ही में एक झरना नीचे बह रहा था, उसके ऊपर मुझे उठाकर उसने चन्द्रापुरी का पथ दिखाकर विदा चाही । विदा तो उसको देनी ही थी, किन्तु हठात् इस क्षण मानो मुझको चेत-सा हुआ । झरने के किनारे खड़ी इस अकस्मात् आविर्भूत कपाल-कुण्डला की ओर देखकर बोला—तुम्हारा घर कहाँ ?

'बहुत दूर यहाँ से । चलते हैं—जाओ तुम, आराम करो ।' कहते-कहते ही वह नदी के प्रस्तर-पथ पर जल्दी-जल्दी चलने लगी । चारों ओर घनान्धकार, काले रंग की पर्वत-श्रेणियाँ, उन्हीं के भयंकर गह्वर से उन्मादिनी चन्द्रा का प्रवाह अन्ध वेग से छूटता आ रहा है, उसी नदी के द्वार की ओर वह रहस्यमयी लड़की, कुछ दूर जाकर, रात्रि के अञ्चल के नीचे अदृश्य हो गई । उसका वास-स्थान कहाँ है, कितनी दूर, किस गहन-गम्भीर स्थान में, यह कौन जानता है ? निर्वाक स्तम्भित दृष्टि से केवल उस दिशा की ओर देखता रहा । वह विचित्र घटना भी आज खुद मेरे लिए एक स्वप्न-सी है ।

चन्द्रापुरी में पहुँचकर गोपालदा और ब्रह्मचारी को फिर पाया । दीर्घ विरह के बाद मिलन । बच गया । मेरा सब चला जाय लेकिन गोपालदा और ब्रह्मचारी को नहीं छोड़ सकता ! आहार के बाद गाँजे

के आसरे बैठे हुए और लोगों को यह घटना सुनाई। किन्तु इससे एक और क्षुद्र नाटक की सृष्टि हुई। अब तक मैं नास्तिक और अधार्मिक करार दिया जाकर उपेक्षित और परित्यक्त हो गया था। इस कहानी को सुनकर हठात् सब बूढ़ियाँ बोल उठीं—कौन बाबा, मनुष्य के छद्म वेष में कौन हो तुम बाबा ? हम पापी हैं, अधम हैं, बाबा तुम्हीं ने दर्शन पाये हैं उसी मा भगवती के ! किस दिशा की ओर वह गई, किस पथ पर, तुमने उसे पकड़ क्यों नहीं लिया बाबा, उसके चरणों की धूल क्यों नहीं ली ? अहा, तुम ब्राह्मण, धार्मिक, तुम्हारे समान महापुरुष—हमारे अपराधों की ओर ध्यान न देना बाबा, तुम कौन हो यह हम इतने दिनों तक…

हँसी रोककर तथा आँख मूँदकर बैठा था। इस बार दोनों हाथ बढ़ाकर, अभयदान देकर देवजनोचित कंठ से बोला—सम्भवामि युगे युगे !

चारू की मा ने चुपचाप आकर पाँवों की धूल माथे पर लगा ली।

कहीं मैदान और कहीं जंगल के बीच से चलकर भीरी चट्टी पार हो गई। रुद्रप्रयाग से अलकनन्दा को बिदा देकर मन्दाकिनी को पकड़ा। मन्दाकिनी के उस पार भीमसेन और बलरामजी के मन्दिर पड़े थे। उसके बाद आई कुण्ड चट्टी। यहाँ से केदारनाथ का बरफ दृष्टिगोचर हुआ। तुषार-किरीट हिमालय, सूर्य-किरण-स्नात, दुग्ध-शुभ्र पर्वतमाला, वर्णों की उज्ज्वलता का रोमांचकर, नयनाभिराम रूप। उसके बाद ही फिर चढ़ाई का पथ, वही अति कष्टदायक पथ-अतिक्रमण, चींटी की तरह मन्दगति। कुछ कदम आगे चलना, फिर थोड़ा खड़ा होना, किसी अर्द्धचेतन यात्री के मुँह में थोड़ा जल डालना, शायद खुद भी थोड़ा-सा पीना, फिर कुछ दूर आगे चलना। इस तरह से आ पहुँचे गुप्तकाशी की धर्मशाला में। छोटा एक शहर। करीब पन्द्रह-बीस धर्मशालाएँ, कई दुकानें, विश्वेश्वर का प्राचीन मन्दिर, दूर एक डाकघर, सामने तुषार से ढका पर्वत। आकाश मेघाच्छन्न, कहीं-कहीं थोड़ा कुहरा, नीचे पर्वत के पठार पर चित्रपट की भाँति क्षुद्र एक-एक पहाड़ी गाँव, कहीं-कहीं सामान्य रूप से आबाद। धर्मशालाएँ काफी सजी हुई और कला-पूर्ण। इतने दिनों बाद हमें जाड़े की कँपकँपी लगी। इस बार शीत के दरवाजे में प्रवेश किया है, वसन्तकाल समाप्त हो गया है, बरफ नजदीक है। यहाँ गोमुखी धारा तथा मणिकर्णिका कुण्ड में स्नान और गुप्तदान का माहात्म्य है। पथ के ऊपर से गुप्तकाशी का रूप सुन्दर

दिखाई देता है। दूर उस पार उखीमठ शहर भग्न चित्र की तरह दिखाई देता है। जाड़े के दिनों में यह सारा पथ और शहर बरफ से ढके रहते हैं, मनुष्य और जानवर सब नीचे की ओर चले जाते हैं।

केदारनाथ पहुँचने के लिए हम सब व्यग्र हैं। परस्पर बातचीत हो रही है कि यात्रियों के धैर्य और उसकी शक्ति की अग्नि-परीक्षा नजदीक ही है, इस समय से सबको सजग रहना चाहिए। जो केदारनाथ का दर्शन नहीं करना चाहते, वे इस समय मन्दाकिनी पार होकर उखीमठ से बद्रीनाथ की ओर जा सकते हैं, इसके बाद सिर पटकने से भी कोई उपाय नहीं। सामने भीषण चढ़ाई, प्राणघाती खतरनाक रास्ता, महँगी खाने-पीने की सामग्री, बर्फीली हवा, प्रकृति का भयावह रूप—अतएव जो दुर्बल हैं, जो डरपोक हैं, जिनको धैर्य कम है, प्राणों की ममता जिनको इस समय महासंकोच में डाल रही है—वे इस वक्त उखीमठ की ओर चले जायँ। कई आदमियों को चलते हुए भी देखा। और एक असुविधा है, गुप्तकाशी से प्रायः तीस मील रास्ता केदारनाथ तक जाकर और फिर सत्तासी मील एक ही रास्ते पर फिरकर आना होता है, अर्थात् उखीमठ न जाने से बद्रीनाथ नहीं पहुँचा जा सकता। झूठमूठ इस सत्तासी मील पंथ को पार करना बहुत कष्टप्रद मालूम होता है। आज तक हम करीब एक सौ बीस मील चल चुके थे, चलने में हमें कष्ट नहीं, किन्तु चढ़ाई-उतराईवाले पहाड़ी रास्ते में एक मील चलना सौगुना हो उठता है। कुछ भी हो, बेला रहते ही हमने गुप्तकाशी से यात्रा की। कुछ दूर जाकर डाकघर देखने से मन एक बार उछल पड़ा, किन्तु किसको पत्र लिखूँ? मन के भीतर सभी अतल तल में चले गये हैं। जाने दो—जय केदारनाथ की जय! एक-दो मील आकर नलाश्रम चट्टी में पहुँचा। यहाँ चट्टीवाले के पास माल असबाब की रसीद लेकर और उसको जमाकर, केदारनाथ की ओर जाने की व्यवस्था है, लौटने के समय यात्री अपना माल असबाब वापस लेकर उखीमठ की ओर जाते हैं। झोला रखकर जाने का सुयोग पाकर महा विपत्ति से बचा, सारे रास्ते में इस झोले और कम्बल ने मुझे भारी तकलीफ दी है।

रसीद तो ली, किन्तु सौभाग्य से चट्टीवाला यदि माल-असबाब वापस न दे, तो मैं बच जाऊँ, और मैं उसका मुख देखना नहीं चाहता! नलाश्रम से एक मील दूर भेतादेवी चट्टी है, यहाँ एक कुण्ड और प्राचीन मन्दिर है। उसके बाद ही फिर चढ़ाई है, चढ़ाई देखते ही सिसकियाँ आने लगती हैं, हृदय का रक्त सूख जाता है। पूरी दो मील की चढ़ाई

के बाद बुझमला चट्टी मिली। सुनने में आया कि यहाँ भगवती के मन्दिर में अनेक महात्माओं को देखा जाता है। दिखाई देते हों, इससे क्या, महात्माओं में मेरी और रुचि नहीं है। यहाँ काठ के बर्तन सस्ते बिकते हैं। बुझमला के बाद फिर उतराई है, चढ़ाई और उतराई का मतलब है एक पहाड़ को पार करना। यह कहा जाता है कि सब मिलाकर जब तक लाख पहाड़ पार नहीं हो जायँ, बद्रीनाथ नहीं पहुँचा जा-सकता। दो मील चलने पर मैखंडा मिला। यहाँ महिषमर्दिनी देवी का मन्दिर है और नदी के ऊपर रस्सी के झूले का पुल है। उत्तर दिशा की ओर पथ पर मुड़ते ही दूर हिम-राज्य दिखाई पड़ता है। धूप में इसका अपूर्व रूप दिखाई देता है। ऊपर उज्ज्वल नील आकाश, उसके नीचे धवल हिम-रेखा, और उसके नीचे ही हरी अरण्यमय पहाड़ियाँ—पीछे की पटभूमि में तीन वर्णों का विस्मयकर समावेश। हृदय में एक ऐसा आनन्द-सा गूँज उठता है जिसकी पहले कभी अनुभूति नहीं हुई थी। और एक मील आने पर फाटा चट्टी मिली। यहाँ एक सरकारी धर्मशाला और पनचक्की हैं। देखते-देखते संध्या का अँधियारा हो आया। आज यहाँ ही विश्राम होगा। किन्तु आश्चर्य, ब्रह्मचारी आगे चला गया है, कल से ही वह मुझको पीछे छोड़कर आगे जाने की चेष्टा कर रहा है, इसका कुछ तात्पर्य समझ में नहीं आया, यहाँ से बदलपुर चट्टी साढ़े तीन मील के क़रीब है। रात्रि सन्निकट है, बदलपुर वह पहुँच पायेगा या नहीं, यह कौन कह सकता है। चिन्तित मन से गोपालदा और बूढ़ियों को लेकर चट्टी में चला आया। ब्रह्मचारी के मन में मेरे लिए नाराजी क्यों पैदा हुई, समझ में नहीं आया। गोपालदा के साथ भी उसकी अवश्य अधिक नहीं बनी। भगवान में उसका पूर्ण विश्वास गोपालदा को मुग्ध नहीं कर पाया, किन्तु मैंने तो उसको अंतरंग स्वीकार कर लिया है।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब कि अँधेरा ही था, यात्रा शुरू हुई। सर्दी होने से रास्ते में चलने में सुविधा हुई, क्योंकि सहज ही में थकावट नहीं होती। पहले तो शीत में थोड़ा कष्ट होता है उसके बाद शरीर थोड़ा गरम होने से अच्छा लगता है। लँगड़ाते-लँगड़ाते आगे-आगे ही चल रहा हूँ। शून्य मन, ब्रह्मचारी के अभाव का ख़याल बार-बार मन में उठ रहा है, रास्ते में हमउम्र साथी को छोड़ देना बहुत कष्टकर होता है। हमउम्र होने से दुःख और आनन्द का अनुभव एक-सा होता है, इसलिए सहज ही में हम एक दूसरे को समझ सकते हैं। इन दिनों, मन

कई स्थानों में टूटा-फूटा है, कई स्थानों में जुड़ा है। थोड़ा गलकर प्रवाहित हुआ है, थोड़ा जमकर पत्थर हुआ है। आवेग सूख गया है, भावुकता दब गई है, दुःख और आनन्द का चेहरा इस समय करीब एक-सा ही है। धीरे-धीरे प्रातःकाल का प्रकाश फूटा, आकाश में प्रभात का निःशब्द समारोह प्रसारित हुआ, पर्वत-शिखर धूप की लालिमा में चमकने लगे—हम चल रहे हैं मन्थर गति से। बदलपुर चट्टी में आकर कुछ मिनट विश्राम लिया। विश्राम लेकर फिर अग्रसर हुए। ऐसा मालूम होता है कि रास्ता कुछ मैदान-सा है, पावों को उतना कष्टमय नहीं लग रहा है। हम सिर झुकाकर चल रहे हैं, किसी बात का ख़याल नहीं, केवल चल रहे हैं, चलने के सिवा और हम लोगों का कोई काम नहीं। रास्ते की तरफ़ कुन्द की झाड़ियाँ वे हों तो क्या, चल, पैदल चल। गौरीफल, दाड़िम और अखरोट के वन—अच्छे तो हैं, चल, पैदल चल। कहीं हू-हू शब्द से जल गिर रहा है, कहीं पहाड़ की देह से झरना फूट पड़ा है, फूटता रहे, हमें तो चलना है! चट्टी से एक पहाड़ी कुत्ता साथ-साथ आ रहा है, इसी तरह जैसे कि युधिष्ठिर के साथ छद्मवेषी धर्म कुत्ते के वेष में चला था, कितनी दूर जायेगा यह कौन बतला सकता है! उस दिन हिसाब लगाकर मैंने यह मालूम किया कि एक कुत्ता आहार के लोभ में करीब बीस मील तक रास्ते में हमारे पीछे-पीछे चला। रास्ते में बहुत से यात्रियों के साथ एक-एक कुत्ता दिखाई देता है। यह पथ महाप्रस्थान का ही पथ है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं। चलते-चलते पहाड़ की एक खुली जगह में आ पहुँचे। गोपालदा खड़े-खड़े ही घोड़े की तरह हाँफ रहे थे, यात्राश्रम से उनकी दृष्टि धुँधली पड़ गई थी। उस विपुल अवकाश के समय शान्ति से खड़े होने पर, उत्तर दिशा की ओर दूर-दूर तक दृष्टि गई। रास्ता अर्द्ध चन्द्राकार होकर मुड़ गया है। बहुत दूर जाने पर पथ दो भागों में बँट जाता है। एक पगडण्डी के आकार में ऊपर को उठ गया है और एक नीचे मन्दाकिनी की ओर चला गया है। कुछ ऐसा मालूम हुआ कि दोनों मार्गों के उस संयोगस्थल पर एक छोटे से बिन्दु के समान ब्रह्मचारी मुड़ रहा है। पीठ पर हरा कम्बल झूल रहा है और मटमैले लाल रंग के गेरुए वस्त्र दिखाई दे रहे हैं—ब्रह्मचारी को छोड़कर और कोई नहीं है!

दो बार ज़ोर से मैं चिल्लाया; हाथ से ठहर जाने का इशारा भी किया, किन्तु सब बेकार, उसके कान में मेरी आवाज़ नहीं गई, वैसे ही वह नीचे के रास्ते की ओर चलने लगा। यदि दौड़कर उसे पकड़ने का

उपाय होता तो उसे रोक लेता, इस तरह से उसको निष्ठुर नहीं होने देता। मुझे छोड़कर उसके चरित्र में से और कोई आनन्द नहीं पाता, मैं उसको प्यार करने लगा हूँ।

करीब नौ बजे के समय हमने त्रियुगीनाथ की पगडंडी का रास्ता पकड़ा। पथ की एक शाखा नीचे मन्दाकिनी के किनारे को चली गई है। पहले विशेष समझ में नहीं आया, किन्तु क़रीब सौ-दो-सौ गज चढ़ाई चढ़ने पर मैं और गोपालदा परस्पर एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। पथ जिस प्रकार टेढ़ा-मेढ़ा और ऊँचा-नीचा है उसी प्रकार दुरारोह भी है। दोनों ओर घने जंगल, कहीं-कहीं पत्र-पल्लवों के भीतर झरनों की झर-झर, गिरगिट की अविश्रान्त पुकार, छायामय निःशब्दता! दीवार पर जिस तरह छिपकली उठती है, उसी तरह उठ रहे हैं, चढ़ाई का पथ प्रायः सीने को अखरता है। रुकते हैं और फिर रेंगते हैं। यह तो तीर्थ-यात्रा नहीं, पूर्व-जन्म के पापों का दंड है। मनुष्य के ऊपर यह है नियति का अन्याय, अत्याचार। एक जगह पर खड़ा होकर हठात् झुँझलाकर कह उठा—त्रियुगीनाथ नहीं आता तो क्या होता, किसने आने को कहा था? गोपालदा के सिवा और कोई पास में नहीं था, चार-पाँच स्त्रियाँ पीछे थीं। वे बोलीं, हँसी में ही बोलीं—दिमाग़ ख़राब हो गया होगा, अब नहीं होगा। फिर चल पड़ा। पाँव नहीं फैला सकता, कमर में दर्द है, सीना कुड़कुड़ा रहा है, इच्छा होती है कि इन सबका ख़ून कर डालूँ—इन पुण्य-लोभियों, इन अन्धों और इन मूर्ख यात्रियों का। आह, आग की तरह गरम निःश्वास; नाक, तालू तथा गला सब सूखकर काठ हो गये हैं, दाँत भींचकर भी मुख थरथरा रहा है, सिर के बालों के भीतर और देह में जूँ कुलबुला रहे हैं, क्लान्त शरीर, मैले वस्त्र, लाठी को पकड़े-पकड़े ही हाथ में फफोला हो गया है—अब नहीं सहा जा सकता, गला सूख गया है, मृत्यु और कितनी दूर है?

पीड़ा जिस समय मनुष्य की अनुभूति की सीमा को पारकर जाती है, उस समय उसकी अवस्था कैसी होती है? वह कैसी होती है, उसको नहीं बतला सकता। सीढ़ी पार कर आकाश की ओर उठ रहा हूँ। आकाश छूने की और देरी नहीं! सोच रहा हूँ कि इससे भी भयंकर क्या यंत्रणा की कोई कहानी हो सकती है! नाख़ूनों के भीतर आलपीन घुसाने से मनुष्य कैसी यंत्रणा पाता है? आधा शरीर मट्टी में हो, शेष आधा बुलडाग नोच रहा हो, उस समय अपराधी किस प्रकार रोता है? शरीर की खाल खींचने पर मनुष्य कैसी आवाज़

करता है ? रण-क्षेत्र में दुश्मनों की तोपों से घायल सैनिक जिस समय काँटेदार तारों के घेरे में झूलते-झूलते चिल्लाता है, उस समय उसको क्या होता है ?—बस, और यंत्रणा नहीं होती ! जोर से चिल्लाकर एक बार हँस उठा । गोपालदा उस समय मुख ढँके बैठे हुए थे ।

चार मील विशाल चढ़ाई इस तरह पार कर त्रियुगीनारायण पहुँचे । गाँव का नाम है शायना । गंगोत्री होकर और एक पथ यहाँ आकर मिल गया है । मन्दिर के चारों ओर तो गाँव है । सर्द हवा गतिहीन हो गई । मक्खियों से बेहद परेशानी थी । भोजन पकाने की और सामर्थ्य थी नहीं । मन्दिर दर्शन करने को गया तो देखा कि भीतर अन्धकार है, मन्दिर में एक बड़े पत्थर के खपरे में धूनी जल रही है । जल रही है त्रेता युग से—कभी भी नहीं बुझती । जाड़े के दिनों में आग में लकड़ी रखकर पंडे नीचे चले आते हैं, ग्रीष्मकाल में आकर मन्दिर के दरवाजे खोलकर देखते हैं कि राख से आग ढकी पड़ी है । बस यही कथा प्रचलित है । यह कथा कहाँ तक सच अथवा झूठ है इसका निर्णय करने की रुचि भी नहीं थी, उत्साह भी नहीं था । जान पड़ा कि सारा महाभारत और रामायण—ये दो ग्रन्थ—चूर्ण-विचूर्ण होकर सारे भारत में फैल गये हैं । भारत की सभ्यता और शिल्पकला, धर्म और आचार, शास्त्र और दर्शन, साहित्य और विज्ञान, इन्हीं दोनों महाकाव्यों को केन्द्रित कर बनाये गये हैं—इस बात में कोई सन्देह नहीं है । मन्दिर का दर्शन कर दुकानदारों के पास से पूरी और तरकारी खरीदकर चट्टी में आया । करीब तीन बजे होंगे । इससे क्या, आज तो पादमेकम् न गच्छामि ।

दूसरे दिन प्रातःकाल जाड़े में सिकुड़कर त्रियुगीनाथ से जल्दी चले । उतराई से पाँवों की व्यथा बढ़ने लगी, बढ़ती है तो बढ़े, जल्दी से नीचे उतरकर चल पड़ा । सभी लोग जल-प्रवाह की तरह पहाड़ों पर ऊपर से नीचे उतर रहे हैं । उतराई में सभी को थोड़ा आराम है, केवल मुझे ही दुःख है । आज गोपालदा मेरी कष्ट-कहानी को सुनने के लिए तैयार नहीं, मालूम हुआ कि उनका चलने का अभ्यास मुझसे अधिक है । आज व्यवस्था हुई है कि गौरीकुण्ड पहुँचकर मध्याह्न का भोजन किया जाय । मानो चलना ही मुख्य है, भोजन और शयन गौण हैं । दो मील नीचे रास्ता तय कर एक छोटा मन्दिर मिलता है, उसी के किनारे से मन्दाकिनी की ओर रास्ता नीचे चला है । सर्प के आकार की अत्यन्त संकीर्ण पथ-रेखा है, दोनों ओर पहाड़ी वन हैं । गाँव के कोई-कोई लड़के-लड़-

कियाँ पाई-पैसा की भिक्षा प्राप्त करने के लिए दौड़कर आये, बड़ी-बड़ी लड़कियाँ उनको पीछे से सिखा देती हैं, भिक्षावृत्ति इनका पेशा नहीं, विलास है। करीब एक मील पगडंडी रास्ता लुढ़कते-पुढ़कते उतरकर मन्दाकिनी का पुल मिला। रुद्रप्रयाग के बाद यही पहली नदी है, इसे पार कर फिर पहाड़ पर चढ़ना शुरू किया। मील का पत्थर देखा गया, यहाँ से केदारनाथ केवल करीब नौ मील है। पहाड़ पर चढ़ते-चढ़ते दिखाई देता है कि, पीछे की ओर से और एक तेज नदी है, नाम दूध-गंगा है, यह मन्दाकिनी की ही शाखा है—आकर मन्दाकिनी से मिली है। हम दूध-गंगा के किनारे ऊँचे पर्वतों की देह पर चल रहे हैं। करीब दस बजे का वक्त होगा, सर्द हवा चल रही है; आकाश सूर्य के प्रकाश से उज्ज्वल है, हम पर्वतों के गहन जंगलों के भीतर से चल रहे हैं। इस समय मेरी आगे चलने की पारी है, चढ़ाई में पाँवों में तकलीफ कम मालूम देती है, एक-एक अग्रगामी यात्री को—पीछे छोड़कर आगे-आगे चल रहा हूँ। बन-जंगलों के चक्कर में, छाया-छाया में सभी भिन्न-भिन्न टुकड़ियों में तटस्थ भाव से चल रहे हैं। सुना गया कि इस तरफ जानवरों का भय है।

प्रायः दोपहर की बेला तक पहुँच गया गौरीकुण्ड के ग्राम में। गाँव की गोद में से ही मन्दाकिनी बहती है। नदी छोटी है किन्तु प्रचंड वेगवती है। जल बर्फ से भी ठण्डा, अभी-अभी बर्फ से पिघला हुआ, स्नान करने का उपाय नहीं। रुद्रप्रयाग से ही हमारा नहाना बन्द हो गया है। गौरीकुण्ड में, गौरी के मन्दिर के पास ही एक चट्टी में आ पहुँचा। सब कुछ प्राचीनता की साक्षी दे रहा है। केदारखंड में लिखा हुआ है कि देवी पार्वती के मन्दाकिनी तट पर ऋतु-स्नान करने से इस स्थान का नाम गौरीतीर्थ हुआ है। जिसका नाम गौरीकुण्ड है उसका दर्शन मिला इस क्षण। एक बड़ा उष्ण जल-कुण्ड है। किसी अदृश्य पर्वतशिखर से एक गरम जल-धार फूटकर यहाँ नीचे उतर आई है। यात्री लोगों ने उसी गरम जल के पास बैठकर तर्पण किया। वास्तव में, इस शीतप्रधान देश में जल से धुएँ का निकलना देखकर मन उल्लसित हो उठा। जल इतना गरम है कि उसके भीतर हाथ-पाँव नहीं रखे जा सकते। फिर भी कोई-कोई यात्री पुण्य के लोभ से अपनी बहादुरी दिखाने इस गरम जल में उतरकर मिनटों खड़े रहे। पुण्य संचय तो वे करेंगे ही।

इस बेला और विश्राम नहीं, सभी के शरीरों में उत्साह है, वक्त पर

रामबाड़ा पहुँचकर रात्रि में विश्राम किया जाय। कल प्रातःकाल चिर हिमाच्छादित, अनेक आशाओं और आकांक्षाओं, अनेक स्वप्नों और तपस्या की प्रतिमूर्ति केदारनाथ मन्दिर में पहुँचना होगा। आज सारी रात्रि शक्ति की साधना करूँगा। बरफ स्पर्श करने में अब और हमें देरी नहीं। सोचा था कि दुकान में आर्डर देकर पूरी लाकर और उन्हें खाकर रामबाड़ा की यात्रा करूँगा, इसी समय एक मस्त भ्रमण-कारी दल कहीं से उड़ता हुआ आकर सबको भयचकित कर खटाखट धूमधाम करने लगा। कैसे दुःशील और शृङ्खलाहीन, किसी भी ओर भ्रूक्षेप नहीं, जैसे युद्ध के घोड़े हों अथवा शिकारियों का दल हो! दरिद्र और पीड़ित यात्रियों की ओर उन्होंने एक बार करुणापूर्ण दृष्टि से देखा, मनुष्य कहकर मानों हम पर्वाह ही नहीं करते। उनकी ओर देखकर सारा मन वितृष्णा से भर उठा। नदी, पर्वत, हिम और अरण्य के बीच में उनके आधुनिक सभ्यता-सुलभ आचार-व्यवहार और पोषाक-परिच्छद संगत नहीं लगते थे, हैट कोट, पैण्ट और बूट की उद्धतता, भ्रमण का वैज्ञानिक साज-सरंजाम, सुसज्जित घोड़ा और सईस—सब मिलकर इस श्वेत जटाधारी निमीलित चक्षु महातपस्वी हिमाद्रि-देवता का मानों परिहास कर रहे हों।

इस धारणा को लिए ही चला जा रहा था, किन्तु हठात् उनके मध्य एक व्यक्ति के साथ बातचीत हुई। कैमरा ठीक करके उसने मेरा फोटो ले लिया। मैं 'टिपीकल' (अजीब) तीर्थयात्री जो हूँ। फोटो लेनेवाला एक बंगाली युवक था, आँखों पर चश्मा था और भद्र और संभ्रान्त घर का लड़का था। नाम धीरेन्द्रनाथ साहा था। लखनऊ रेड-क्रास सोसाइटी के आप प्रधान सिनेमाटोग्राफर हैं। सरकारी स्वास्थ्य-विभाग के खर्चे पर सदलबल हिमालय-भ्रमण को चले हैं। यही दल के नेता हैं। बातचीत करने पर जिस परिमाण में आनन्द पाया, उसी परिमाण में भूल भी दूर हुई। जनोपकारी कार्य के लिए ये लोग सब तकलीफें उठाकर इतनी दूर आये हैं। अन्त में इन्होंने केदार और बद्री-नाथ के यात्रा-पथ का फिल्म लिया। भारतवर्ष में यह जातीय चल-चित्र अपने ढंग का सर्वप्रथम है। इसमें हिमालय के मनोरम दृश्य एवं पौरा-णिक तीर्थ-माहात्म्य छोड़कर स्वास्थ्य-संबन्धी बहुत-सी विवेचना और उपदेश भी रहेंगे। यात्रियों की सुख-सुविधा, रोग-भोग, दुःख और पीड़न, अकाल और मृत्यु—उनका प्रतिकार क्या है, इत्यादि बातें रहेंगी। इस चल-चित्र को प्रतिवर्ष केदार-बद्री-यात्रा के आरम्भ में हरिद्वार में

दिखाया जायगा। जनहित के लिए लखनऊ रेड-क्रास का यह विपुल उत्साह और उद्यम वास्तव में प्रशंसा के योग्य है। धीरेन्द्रनाथ के साथ बातचीत कर प्रसन्नता प्राप्त हुई। मिष्टभाषी, सदालापी और चरित्रवान युवक हैं। उन्हीं के उद्योग से और लखनऊ रेड-क्रास के सौजन्य से बाद में मैं केदार-बद्रीनाथ के आलोक-चित्रों को संग्रह कर सका। बाद में यह जानने का सुयोग मिला कि धीरेन्द्रनाथ ही एक मात्र ऐसे चित्र-संग्रहकर्त्ता हैं जो १४००० फीट की ऊँचाई से अलकनन्दा के चिर हिमाच्छादित जन्म-स्थल के फोटो अपने जीवन को खतरे में डालकर भी बना लेने में समर्थ हुए हैं।

गौरीकुण्ड छोड़कर आगे-आगे चला। बहुत सर्दी है। सारे पथ में ही चढ़ाई है। लँगड़ाते चलने में भी और कष्ट नहीं, सब कुछ सह लिया है, आकाश में कहीं-कहीं बादल घिरे हैं। थोड़ी देर पहले थोड़ी-थोड़ी बारिश हुई है। सर्द हवा बहने लगी है। बीच-बीच में केदार से लौटते हुए शीत से दुःखी यात्रियों के दल मिल रहे हैं। परस्पर मिलते ही 'जय केदारनाथ' कहकर एक दूसरे का अभिवादन किया जाता है। सभी यथासाध्य गरम वस्त्रों से ढके हुए हैं। सभी यह कहकर जाते हैं—सँभलकर चलो भाई, बहुत बरफ है, जान बचाके।

जितना आगे जाते हैं उतना ही भय, मानो एक आनेवाली विपत्ति दूर हमारी प्रतीक्षा कर रही है। नाना शंकाएँ और दुश्चिन्ताएँ, किन्तु चाल हमारी ढीली नहीं है, काफी तेज तथा सतर्क है। कहीं-कहीं रास्ता बहुत सँकरा है, झुण्ड के झुण्ड बकरियों की पीठ पर खाने-पीने की सामग्री व जलाने के लिए लकड़ी के गट्ठे लेकर, एक के बाद एक पहाड़ी आदमी आ-जा रहे हैं, हर एक के साथ में चल रहा है गृह-पालित एक बड़ा कुत्ता। रास्ते में जंगली जानवरों से बकरियों को बचाने के लिए एक बड़ा शिकारी कुत्ता ही काफी है।

हम चल रहे हैं वनयुक्त पर्वतीय पथ से। स्थान का नाम चीरवासा भैरव है। चेष्टा करने से हम आज ही केदारनाथ पहुँच सकते हैं, किन्तु संध्या के पूर्व केदारनाथ का रास्ता बिलकुल खतरे से खाली नहीं, आकाश में भी घने मेघों के छा जाने से इस समय अन्धकार हो आया है, शायद बारिश के साथ-साथ बरफ या ओले भी गिरें, अतएव रामबाड़ा में ही आज हमारा रात्रिवास होगा। हमारा परम-प्रिय साथी अमरसिंह इस संबन्ध में यथेष्ट सद्-विवेचन का परिचय देने लगा। करीब साढ़े चार बजे के समय हम रामबाड़ा चट्टी में चले आये, उस समय बारिश

हो रही थी। इतनी हवा और इतनी सर्दी है कि खुली जगह में एक मिनट भी खड़ा नहीं रहा जा सकता। छाती को सर्दी चीरने-सी लगी है, शरीर में काँटे की तरह चुभ रही है, जल्दी से कम्बल ओढ़कर बैठ गया। दाँत अकड़ गये हैं।

वृष्टि तो रुक गई, किन्तु आसमान साफ नहीं हुआ। चट्टी की दीवाल और छत काँप रही है, बरफ की प्रचंड हवा बराबर सरसराती हुई बह रही है। गोपालदा चिलम भरकर भय से बराबर बाहर की ओर देखकर न मालूम क्या सोच रहे थे। इस समय कहीं से तूफान की भाँति एकाएक ब्रह्मचारी का आगमन हुआ। हठात् उल्लास से मैं प्रायः चिल्ला उठा। हँसते-हँसते वह बोला—केदारनाथ हो आया। ओर बाप रे, कितना खतरनाक मामला है। बरफ, बरफ और बरफ। खूब सावधानी से चलना जिससे तूफान के शिकार न बनो। यहाँ से इस समय चले जाने से जान बच सकती है।

'तुमने मुझको क्यों छोड़ दिया ब्रह्मचारी ?'

'साथ ही तो हूँ दादा, आगे चला हूँ, इसके बाद फिर बद्रीनाथ में भेंट होगी। मुझे जल्दी जो है न, लौटकर वृन्दावन जाऊँगा।' यह कहकर वह धूम्रपान करने लगा। उसकी दृष्टि में नवीन चंचलता थी, हृदय में आशा थी, मानो उसने कहीं से साहस प्राप्त किया हो। इस बात को उससे पूछने में लज्जा मालूम देती थी कि कौन उसके आहार का प्रबन्ध करता है, उसका नवीन बन्धु कौन है, मुझसे भी अधिक उसका अपना कौन है—किन्तु उसकी ओर देखकर चुप बैठा रहा। शायद केवल पन्द्रह दिन उसके साथ परिचय हुआ, किन्तु समय का परिमाण ही तो बड़ा नहीं है, वह मेरी नाड़ी-नाड़ी से बँध गया है; रास्ते में, दुःख-सुख में तथा आपत्ति-विपत्ति में हमारा परिचय दृढ़ हुआ था, बन्धुत्व के प्रथम बन्धन में ग्रन्थि के बाद ग्रन्थि पड़ती गई। धूम्रपान खतम करने पर, झोला-कम्बल, लाठी और लोटा लेकर वह उठ बैठा और गोपालदा से हँसकर विदा लेता हुआ बोला—चलता हूँ दादा, समय पर गौरीकुण्ड पहुँचना होगा। ओम् नमो नारायण !

उसकी ओर फिर दृष्टि न उठा सका, यदि उसकी ओर देखता तो वह शायद जान जाता कि प्रियजनों से बिछुड़ने के समय मेरी क्या दशा हो जाती है, मुझसे अधिक दुर्बल और क्षण-भंगुर संसार में कोई नहीं है। केवल एक बार कहना चाहता था, 'मेरा अपराध क्या है ब्रह्मचारी, यह तुम नहीं बतला गये ?' किन्तु मुख से आवाज न निकली।

हाँ, वह इसी तरह, सभी का सदा से इसी तरह, परम अवज्ञा और अवहेलना के साथ त्याग करता आया है। कहीं कारण था और कहीं बिलकुल भी नहीं। यह भिक्षा माँगता है, कङ्गालपन दिखाता है, अत्यन्त अवांच्छनीय खुशामद करते हुए भी उसे देखा है, फिर भी उसमें मानो इस्पात की-सी दृढ़ता थी। मानव-समाज के प्रति उसकी एक भयानक भृकुटी थी और था उसमें निगूढ़ अभिमान। यही उसका चरित्र, यही उसका संन्यास था। उसके चले जाने के बाद भी उसी प्रकार बैठा रहा, बैठा ही रहा, भीतर अनेक यात्री शीत से काँपते हुए सी-सी कर रहे हैं, कोई-कोई आग जलाकर उसे घेरे बैठे हैं, किसी ने कम्पित कण्ठ से शुरू की है महाभारत की कथा—मैं निर्वाक् होकर गौरीकुण्ड के पथ की ओर ताकता हुआ रह गया। सामने शीत-जर्जर अँधेरी रात्रि नीचे उतर रही है, इस समय शायद मेघ और वृष्टि का अर्थ हिमपात का होना है, वह निष्ठुर कहाँ जाकर अदृश्य हो गया, यह कौन जानता है, जीवन में किसी दिन फिर उसे नहीं देख पाऊँगा, यही जानता हूँ—तब भी कङ्गाल की तरह मेरा मन दौड़ पड़ा है उसके पीछे-पीछे। वह दरिद्र और भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करनेवाला है, यह समझकर मैं उसे बराबर आहार और आश्रय देता आया हूँ, यह अहंकार अब मुझे नहीं है, मन में यह खयाल आया कि इतने दिनों मैं ही उसके अधिकार में था। मैं उससे पराजित हो चुका हूँ, मैं उसके अधीन हूँ!

रात चट्टीवाले को चार आने देकर एक लिहाफ भाड़े पर लेकर ओढ़ा था, इसलिए सुबह नींद नहीं टूटी। नहीं टूटने की बात ही थी, क्योंकि लिहाफ गरम था। आँख खोलकर देखता हूँ कि बूढ़े चूहे की तरह गोपालदा मेरे लिहाफ के भीतर घुसकर खों-खों कर खर्राटे भर रहे हैं। अमरसिंह और कालीचरण की धमकियों से हम सब जल्दी उठ पड़े। लिहाफ छोड़ते ही बाहर की सर्दी चाबुक-सा मारने लगी। जल्दी-जल्दी बाँधना-बटोरना सब ठीक कर जिस समय ही-ही करते-करते रास्ते में आये, उस समय काफी वक्त हो चुका था।

आकाश में घने बादलों और कुहरे से प्रायः अन्धकार हो रहा था। सुनने में आया कि वर्ष में केवल किसी-किसी दिन इस राज्य में सूर्य-किरण दिखाई पड़ती है। सामने सफेद हिमाच्छादित पर्वतों के वक्षःस्थल पर मेघ धीरे-धीरे तैरते हुए-से चले जा रहे हैं। सर्दी से पाँव ठीक नहीं पड़ रहे हैं, उन्मत्तों की तरह अस्त-व्यस्त रूप में चल रहे हैं। दाँत के ऊपर दाँत दबाने से दाँती बँध जाती है। इच्छा होती है कि इधर-उधर

दौड़ पड़ें। मुख और आँखों पर सुई की भाँति बर्फ़ीली हवा चुभ रह है, लाठी नहीं सँभाली जा रही है। पगडंडीवाला पहाड़ी पथ, बहु लम्बी चढ़ाई नहीं, भूल-भुलैये में चलने की तरह घूम-घूमकर ऊपर उ रहे हैं। सीने में काफ़ी दम है, लेकिन पाँव थक गये हैं। थोड़ा खड़े ह जायँ फिर चढ़ेंगे। आज मैं आगे-आगे चल रहा हूँ। व्यथा नहीं थकावट नहीं, उत्साह-हीनता नहीं, पीछे का मार्ग कुहरे में छिपा हुअ है, सामने हिमालय की अनन्त धूमिलता, रास्ते के किनारे-किनारे ह बर्फ के स्तूप बने हुए पड़े हैं, झरने साबुन के फेन की तरह बह रहे हैं— आज मैं आगे-आगे। आज मेरे शरीर में लौट आई है पुरातन शक्ति बल, दुरन्त उद्दीपना तथा अपरिमेय प्राण-लीला। कहाँ खो गई है पी की पृथ्वी, कहाँ विलीन हो गया है पिछले जीवन का समाज-संसा और आत्मीय-जनों तथा बन्धुओं का दल—आज मैं और विश्राम लूँगा, तुच्छ देह के अभाव-अभियोगों की ओर दृष्टि नहीं डालूँगा, आ बाढ़ की तरह अप्रतिहत गति से दौड़ पड़ूँगा। समस्त जीवन से इ बार मुक्ति पाई है; सब बन्धन खुल गये हैं; लोभ, मोह व स्वार्थ ह सांसारिक पथ पर छोड़ आया हूँ; पाप-पुण्य, दुःख और आनन्द व कोई प्रश्न नहीं। इस समय सरिता दौड़ पड़ी है महासागर की ओ अन्धकार दौड़ा है प्रकाश की ओर, जीवन और मृत्यु भाग रही महानिर्वाण के पथ पर, मनुष्य भाग पड़ा है स्वर्ग को! बाधा-विपत्ति की अब पर्वाह नहीं करूँगा, स्वर्ग-राज्य की प्रतिष्ठा की कल्पना लि चल रहा हूँ, देह से देहान्तर में आया हूँ, आत्मा को किया आविष्कृत।

एक बार खड़ा हुआ। भागते-भागते सबको पीछे छोड़ आया हूँ चारों ओर के सीमाहीन कुहरे में साथी न मालूम कहाँ गुम हो गये केवल दोनों ओर की सामान्य पथ-रेखा दिखाई दे रही है। कहीं व वृक्ष-लता नहीं, वन-अरण्य नहीं, जीव-जानवरों का चिह्न मात्र नहीं केवल हिमाच्छादित पर्वतमाला, असंख्य झरने चीत्कार करते कर रास्ते के किनारे उतर आये हैं। बायें-दायें, सामने-पीछे बादलों की घन घोर घटाएँ, विलुप्त आकाश, निश्चिह्न पृथ्वी। इस बार चल रहा हूँ अन की तरह टटोल-टटोलकर गर्जनमत्त वायुवेग से और अपने को न सँभाल पाता। धीरे-धीरे प्रकाश प्रखर हो उठा। वह प्रकाश आका का प्रकाश नहीं था, धूप की उज्ज्वलता नहीं थी, विद्युत-वह्नि का प्रका भी नहीं था—वह एक नवीन अलौकिक प्रकाश था हिम की शुभ्र

का तीव्र और तीक्ष्ण प्रकाश था। प्रकाश का प्रवाह, प्रकाश का समुद्र, चारों ओर चमचमाता प्रकाश। आँखों की दृष्टि उग्र यंत्रणा से बन्द हो गई; आँखें ठंढी होकर बन्द हो गईं। आँखों को हाथ से बन्द कर अन्धे की तरह सँकरे रास्ते पर पाँव थपथपाते चल रहा हूँ। प्रकाश की कैसी भयानक संहारकारिणी उग्रता है, तीर की भाँति आँखों में लगती है, यात्री पथभ्रष्ट होकर ठोकर खाकर दूर उछल पड़ते हैं। देखते-देखते और एक अपशकुन दिखाई दिया। तूफान उठा, तूफान के साथ-साथ सेफालिका के फूलों की तरह हिम-वर्षा, उसके साथ ही वर्षा। कितनी भयंकर सर्दी! आह जान पड़ता है कि अब तो प्राण बचेंगे नहीं, अभी कितनी दूर और जाना है कौन कह सकता है, मन्दिर अभी कितनी दूर है? सिर के ऊपर बरफ पड़ रही है, काँधे पर पड़ रही है, कम्बल भी बर्फ से सफेद हो गया, आँख को हाथ से दबाने पर भी वे नहीं खुल पातीं, पागलों की तरह भागने की चेष्टा करने लगा।

'ओफ!'

पाँव फिसलने से बरफ के ऊपर पड़ा, पथ बरफ में डूब गया है। अरे, वास्तव में क्या मेरे शरीर में अब और शक्ति नहीं रही? शरीर पत्थर की तरह प्राणहीन क्यों हो गया है? ओ, मैं किधर जा पड़ा हूँ? हाथों से टटोलते-टटोलते कम्बल को ढूँढ़ पाया। अहा, बेचारे ने मेरे लिए कितना कष्ट सहा। कितना नीचे गिर पड़ा हूँ, समझ में नहीं आया, बहुत चेष्टा करने पर आँखों की पलकें खोलीं तो देखता हूँ कि पास ही में एक छोटा तालाब शीत से जमकर आईने के काँच की तरह सख्त हो गया है। शरीर झाड़कर फिर उठा, मिश्री के ढेर की तरह बरफ के स्तूप में पाँव डूब गया। लाठी बरफ में खड़ी है। खैर, इस यात्रा में बच गया। कमर तक सर्दी के कारण पक्षाघात हो गया है, शरीर का ऊपरी भाग ही अब बाकी रह गया है। अपने को खींचते-खींचते आगे चल रहा हूँ, आँखें खुल जातीं तो देख सकता कि कितनी दूर चलना और शेष है! आँख-मुख पर पड़ रही हैं हिम और वर्षा की बूँदें, सिर के बाल भारी हो उठे हैं, देह के गेरुआ-वस्त्र मुलायम बरफ से ढँक गये। एक बार देखने की चेष्टा भी की। सामने हिम की पुष्प-वृष्टि चाँदी के झालर की तरह झलमल कर रही है, सिर के ऊपर हिम का शामियाना। कैसा अनिर्वचनीय सौन्दर्य है। मानो किसी विराट् के पद-तल छूने के लिए उठ रहा हूँ, मानो पागल की तरह एक विपुल विश्व के तोरण-द्वार पर कराघात करने के लिए, अन्धे की तरह

टटोलता-टटोलता चल रहा हूँ—मानों स्वर्ग के साथ आज मृत्युलोक का आलिंगन होगा।

शंखध्वनि नहीं सुन रहा हूँ ? मालूम होता है कि काँसे की घण्टी की आवाज आ रही है। कहाँ से ? उत्तर से, नहीं दक्षिण से ? फिर कान लगाकर सुना। किन्तु अब नहीं चला जाता, एक बार सोकर विश्राम लूँगा ? किन्तु सोते ही चुप हो जाऊँगा, सदा के लिए चुप। प्राणों में धीरे-धीरे नीचे डूबा जा रहा हूँ, सब कुछ डूब रहा है—रूप, प्रकाश, शब्द, चेतना, निःश्वास—सब। हाथ-पाँव अब और कुछ सुनना नहीं चाहते ! एक बार चीत्कार कर रो नहीं सकता ? एक बार तूफान की तरह हँस नहीं सकता ?

'महाराजजी क्यों खड़ा हुआ है ?'—हाथ के ऊपर प्रचंड झकझोर पाकर सजग हो उठा। हाथ पकड़कर कई क़दम खींच ले जाकर उसने कहा—ऐसा होता है ठंढे में जल्दी-जल्दी आना।

'कौन हो तुम, छोड़ो-छोड़ो…'

'आओ जी, आँख खोलो, मैं अमरसिंह हूँ। आओ, पुल आगे है।'

शरीर की सारी शक्ति संचय कर आँखों की पलकें खोलकर एक बार देखा। तब मन्दाकिनी—दूध-गंगा के पुल के पास आ गया था। काँसे के घण्टे का शब्द नजदीक से आता हुआ फिर सुनाई दिया। दूर पर दो-चार यात्री छाया की तरह झुकते-उठते चल रहे हैं। पुल पार होते ही सामान्य बस्ती, कई पत्थरों के घर, तथा दो-एक दुकानें दिखाई दीं। पत्थर बिछा हुआ पक्का रास्ता है। घर-द्वार, दुकान-पाट, पथ-घाट सभी कठोर बर्फ के स्तूप से ढके हैं। उसके ऊपर ही आना-जाना होता है। मालूम पड़ा कि गोपालदा का दल इस समय बहुत पीछे है।

रास्ते में मुड़ते ही सामने हिमाच्छादित हिमालय की पटभूमि में केदारनाथ का मन्दिर दिखाई दिया। सामने पत्थरों से ढकी वेदिका के ऊपर पथ की ओर पीछे फिरने पर पत्थर का एक विराट् साँड़ बैठा दिखाई देता है। आँखों ने अभी तक बरफ की चमक को बहुत-कुछ सह लिया है। इस बार और कष्ट नहीं होता। हाथ की ओर देखता हूँ तो अँगुलियों के सिरे ठंढ से फट गये हैं और उनसे लोहू निकल रहा है, पाँवों का चमड़ा फट गया है। खैर जो भी, बाहर पादुका का परित्याग कर, इस परम रूपवान् मन्दिर के घने अन्धकार में अन्दर जल्दी-जल्दी प्रवेश किया। उस समय भीतर कई अर्द्ध-उन्मत्त स्त्री-पुरुष यात्री केदारनाथ की विपुल देह के ऊपर लोट-पोट ले रहे थे। केदारनाथ

मूर्तिमान नहीं हैं, कठोर आसमानी एक बड़े पत्थर के खंड हैं—यही सही, उसी को आलिंगन कर कोई हँस रहा है, कोई रो रहा है, कोई चीत्कार कर रहा है, कोई गा रहा है, कोई आर्तनाद और करुणा-विनय कर रहा है, कोई शीत-विदीर्ण रक्ताक्त मुख से उसको पागल की तरह चूम रहा है। आवेग, उत्तेजना, उल्लास, आर्तस्वर, पूजा-पाठ, स्तोत्र-मंत्र, स्नेह-प्रेम, भक्ति और आनन्द—किन्तु अचंचल और बधिर प्रस्तर-स्तूप उसी तरह अपनी स्थिर नीरवता में पड़ा रहा। भीतर काला अँधेरा और कठिन असह्य, प्राण कँपानेवाला शीत है, जमीन पर पाँव रखकर खड़ा नहीं हुआ जाता, सामने यह पथ-भ्रांत पागलों का दल आत्महारा होकर कोलाहल कर रहा है! न मालूम क्या सोचकर एक बार अन्धकार में खड़ा रहा।

किन्तु भीतर के हिमगर्भ अन्धार के बीच स्थिर होकर खड़ा नहीं हुआ जा सकता। ठंढ से सरासर सारा शरीर संज्ञाहीन-सा होने लगता है, शरीर का खून जमने लगता है, गले के भीतर से एक प्रकार की भग्न, आर्त आवाज विदीर्ण होकर बाहर निकलती है। इस ओर विक्षिप्त और उन्मत्त यात्रियों का प्रलाप—किसी के मुँह के कोने से खून निकल रहा है, किसी के मुँह से फेन, हाथ-पाँव में हिमक्षत रक्त के दाग हैं, सारे शरीर में बरफ का चूना बिखरा पड़ा है, किसी-किसी का गला बैठ गया है—किन्तु क्यों? दुर्गम के इस वीभत्स पीड़न में से होकर वे किस दुर्लभ को वरण करने आये थे? मन्दिर के भीतर प्रेत की भाँति कुछ क्षण अकेला इधर-उधर टहला; भीतर चिर-अन्धकार है, भय का त्रास तथा रहस्य-सागर है, सुई की नोक के बराबर भी प्रकाश-प्रवेश का कोई रास्ता नहीं है। क्या बोलूँ, क्या प्रार्थना करूँ? इस निर्बोध प्रस्तर-स्तूप के सामने खड़े होकर अपनी निर्धनता प्रकट करूँ—यह तो भयानक नादानी होगी। हाँ, एक पथभ्रांत सामान्य तीर्थयात्री, बस यही तो मेरा अन्तिम परिचय नहीं है; मैं क्षुद्र हूँ, मैं नगण्य हूँ—इस बात को ही किस संकीर्णता से अनुभव करूँ? भावुकता देकर, आनन्द देकर, विश्वास और प्रेम देकर इस मिट्टी और पत्थर की प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, इसके पास खड़े होकर यदि अपने को छोटा न समझ सकूँ, तब क्या यह मेरा अहंकार है? देवता के पास पहुँचकर ही तो मैं अपने देवत्व को अनुभव करता हूँ!

अन्धकार के भीतर पाँवों को सावधानी से आगे बढ़ाकर दरवाजे से बाहर आया। हाथ, पाँव, मुख ठण्ढ से अकड़े जा रहे हैं, नीचे उतरकर किसी प्रकार जूता पहनकर भाग कर चलने लगा।

हाथ में लाठी है, किन्तु उसको हिलाने-डुलाने की शक्ति नहीं रह गई है, पाँवों के नीचे बरफ के दबने के कारण मच-मच आवाज हो रही है, अन्धकार से हिम के प्रकाश में आने पर फिर आँखें बन्द हो गईं—मुख से एक प्रकार की आवाज निकालता हुआ धर्मशाला में चला आया।

छोटे पत्थरों के घर बरफ के गर्भ में समाधिस्थ हो गये हैं। भीतर हम कई यात्री हैं। गोपालदा और बूढ़ियाँ कम्बल ओढ़कर सिकुड़कर काँप रही हैं, किसी के मुँह से कोई शब्द नहीं निकलता, सभी के आँखों और मुख पर प्राण-भय के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। बाहर मेघाच्छादित आकाश, बराबर चुपचाप हिम गिर रहा है—जहाँ तक कुहरे के भीतर देखा जाता है, पत्थरों के घरों की छतें, खिड़कियाँ, दरवाजे, पथ-घाट, दुकानों की कच्ची छतें कठोर स्तूपाकार हिम से ढकी पड़ी हैं। कोई-कोई स्थानीय लोग लोहे के हथियारों से बरफ काटकर अपने आने-जाने का रास्ता ठीक कर रहे हैं। प्रत्येक दिन दो बार चार बार उनको हथियार काम में लाने पड़ते हैं। सभी यदि इस देश में निष्क्रिय होकर बैठ जायँ, तब एक दिन बरफ उनको अपना ग्रास बना ही लेगा।

इस समय अमरसिंह कई कम्बल और लकड़ी ले आया। पंडे इस देश में बिना मूल्य केवल उधार देकर यात्रियों की सहायता करते हैं, लकड़ी भी कुछ-कुछ वे इसी तरह दे देते हैं। कम्बल तो अमरसिंह ने दिये किन्तु सहज में उनका स्पर्श न किया जा सका, वे भी बरफ हो गये थे, छूते ही हाथ सिकुड़ने लगते, शरीर पर चिपकाने से शीत हड्डियों में घुसने लगता था। अमरसिंह ने लोहे के एक खपरे में लकड़ियों को जलाया। आग को देखकर हमारे आनन्द का क्या ठिकाना! वह मानो मृतसंजीवनी थी, वह मानो हम सभी की लुप्त आयु थी। लकड़ी इतनी ठंढी थी कि जल ही नहीं पाती थी, तब भी उस जरा-सी आग के चारों ओर यात्री जाकर उसे घेर कर बैठ गये, कोई उसमें अपना हाथ घुसा देता था, कोई पाँव फेंक देता था—हाथ-पाँव जल जाँय, झुलस जायँ, कोई परवा नहीं—आग को लेकर रार-तकरार, छीना-झपटी तथा मनोमालिन्य होने लगता था। एक का शरीर ज्यादा गरम हो जाता है तो दूसरा ईर्ष्या से जल उठता है। बूढ़ी ब्राह्मणी के बारे में यह सन्देह हुआ कि वह शायद इस आग को सबके पास से छीनकर अपने शरीर के ऊपर ही उड़ेल लेगी। इस बीच यात्रियों में से सबको बूढ़ी ब्राह्मणी का पर-पीड़न तथा उसका स्वार्थ विदित हो गये। झुकी हुई कमरवाली

चारू की मा इस समय तक ठंढ से कम्बलों के नीचे लुकी पड़ी थी, इस बार हठात् एक कम्बल हाथ में लेकर पागलों की तरह उठकर वह आग की तरफ आई, कम्बल को अँगारों के बीच घुसेड़ दिया, एक रोआँ भी उसका नहीं जला। बूढ़ी ब्राह्मणी के हाँ-हाँ करते हुए उठते ही उसने कम्बल को ऊँचा उठाकर कुछ देर तक आग में तपाया उसके बाद फिर आगे आ गई। काठ की भाँति कठिन और निश्चल होकर अभी तक एक तरफ बैठा हुआ था, चारू की मा ने हठात् वह कम्बल खोलकर मेरे शरीर पर ओढ़ा दिया। कहने लगी—सब आग को वह चाटी जा रही है, तुम भी मनुष्य हो, तब फिर...कम्बल जरा भी गरम नहीं हुआ, क्यों ब्राह्मण ठाकुर? यह कहकर वह फिर, कम्बलों के उसी ढेर के नीचे घुस पड़ी।

कृतज्ञता प्रकट करने की भाषा तो शायद थी किन्तु शक्ति नहीं थी। केवल शीत-कातर मुँह से इस स्नेहमयी वृद्धा की ओर देखा। यही मेरु-दंड-भग्न चारू की मा कंकाल शरीर को लेकर बराबर चल रही है, तिस-पर भी आश्चर्य तो यह है कि उसके मुख पर सदा हँसी दिखाई देती है और बातचीत में मधुरता। इस बूढ़ी को सभी दुतकारते-फटकारते हैं, सामान्य कारण पर भी धमकाते और उसपर शासन करते हैं, बात-चीत में खास उक्तियाँ भरने के कारण वह अनेक लोगों के लिए पागल है, पैसा-पाई खर्च करने के बाद वह हिसाब नहीं रखती, इससे ब्राह्मणी मा की दृष्टि में वह अभागिनी है, इसपर भी चट्टी-चट्टी में यह दिखाई देता है कि वह बहुतों के जूठे बर्तन मल देती है, कभी-कभी मसाले पीस देती है, बिना कहे सबकी सेवा कर वह सबको स्वस्थ रखने की चेष्टा करती है। यह बिलकुल साधारण परिश्रम है, किन्तु थके-माँदे, गतिहीन, यात्रियों के लिए यह महान उपकार ही सिद्ध होता है।

घर चारों ओर से बन्द है, पत्थरों का बना मजबूत घर है, कहीं भी एक छेद नहीं, बाहर की हवा से सभी बाघ की भाँति भय खाते हैं—उसी वायु-लेशहीन घर के भीतर आग जलाकर सभी बैठे रहे। धुएँ और आग से जब भीतर थोड़ी गरमी आई तब किसी-किसी के मुँह से आवाज निकली। उस समय वक्त काफी गुजर चुका था, शायद बारह बज गये होंगे। एक रात्रि केदारनाथ में बिताने का रिवाज है। अमर-सिंह की सहायता से उस दिन पूरी और आलू की तरकारी की व्यवस्था हुई। आकाश का दुर्योग कम नहीं हुआ, सूर्य मानो इस देश में है ही नहीं, मेघ और कुहरे से यह देश सदा अँधेरे से ढका रहता है; कभी

हिमपात के बदले वर्षा होती है, कभी वर्षा के बदले हिमपात, वही हिम देखते-देखते जमकर सख्त बरफ में परिणत हो जाता है, वर्षाकाल के अन्त तक केदारनाथ में मनुष्यों का समागम रहता है, शरतकाल के प्रारम्भ होते ही सभी नीचे उतर जाते हैं, पशु-पक्षी और मनुष्यों का चिह्न तक नहीं देखा जाता। घर बरफ के नीचे कई महीनों तक अदृश्य रहते हैं। ये घर और रास्ते अनेक शताब्दी पूर्व के बने हैं, किन्तु आज भी जिस प्रकार नये-से लगते हैं, उसी तरह साफ-सुथरे भी हैं, कहीं भी टूटने-फूटने का चिह्न नहीं, बहुत संभव है कि एक ही ऋतु की आबहवा से उनकी आयु इतनी दीर्घ हो गई हो।

सारे दिन आग जलाकर, कम्बल ओढ़कर घर के भीतर अकर्मण्य बैठे रहे। कब दिन का चौथा पहर संध्या में परिणत हो गया और संध्या कब रात्रि में परिणत हो गई—यह कुछ नहीं मालूम हो सका। आँखें नींद से भारी अवश्य हो रही थीं किन्तु ठण्ढ से नींद न आ सकी। हाथ-पाँव हिलाने की शक्ति भी लुप्त हो चुकी। शीत के असह्य क्लेश और पीड़न में वह भयंकर रात्रि व्यतीत हुई।

❀ ❀ ❀

उसके बाद और कुछ न कहूँगा। उस दिन प्रातःकाल वही आकाश का अनियंत्रित दुर्योग, हिमपात, मेघान्धकार तथा ओलों का गिरना। इन सबके होते हुए किस प्रकार वहाँ से भाग चले, किस प्रकार उतराई के मार्ग से रामबाड़ा पार होकर सीधे गौरीकुण्ड में आकर फिर रुके, उसके वर्णन करने की अब जरूरत नहीं। जहाँ से हम पहले चले थे उसी से लौटे भी, दो दिन का रास्ता पार कर चुकने के बाद एक मध्याह्न को हम उसी नलाश्रम चट्टी में आ पहुंचे। इसी स्थान में हम अपनी कुछ पोटलियाँ-मोटलियाँ छोड़ गये थे। अब और ठंढा नहीं, आकाश नीलम की तरह झलमल कर रहा है, सुन्दर आराम देनेवाली धूप है। फिर दिखाई दी अरण्य की सुस्निग्ध श्यामलता—वसन्तकाल को हमने फिर वरण किया। अब फिर नया रास्ता है। दक्षिण का मार्ग गुप्तकाशी को गया है, सामने का पथ बहुत गहराई में मन्दाकिनी के तट की ओर चला गया है। फिर वही प्रचंड मक्खियों की परेशानी शुरू हुई, पहले की तरह ही सिर से लेकर पैर तक कीड़े-मकोड़ों की परेशानी, देह में खुजली लगना, घुटनों में बड़ी व्यथा। नलाश्रम चट्टी में खा-पीकर उसी पुराने झोले-झंझट को कन्धे पर लटकाकर इस उतराई के रास्ते से फिर यात्रा करने लगे। सुनने में आया कि मन्दाकिनी पार

होने पर उखीमठ यहाँ से केवल तीन मील दूर है। आज हमको उखीमठ पहुँचना ही होगा। केदारनाथ से वापस आ गये हैं, इस बार नवीन उत्साह है, अब सीधा बद्रिकाश्रम ही चलेंगे, और कोई बात नहीं होगी, यही एक लक्ष्य है।

किन्तु हाय रे तीन मील! उलटते-पलटते यात्री उतरते जा रहे हैं, किन्तु तीन मील पूरे ही नहीं होते। यात्रियों के उत्साह को जीवित रखने के लिए किस मिथ्यावादी ने यह बात गढ़ दी है कि यह दीर्घ पथ केवल तीन मील का है? पगडण्डी के पथ पर घूम-घूमकर जब मन्दाकिनी के पुल पर हम लोग आये तब हम काफी थक गये थे। पुल पार होते ही रास्ते का स्वरूप बिलकुल बदल गया। सीधा खड़ा पर्वत, भारी चढ़ाई, ऐसी चढ़ाई कि उसकी भीषणता का अनुमान करना भी कठिन है। एक हाथ में लाठी और दूसरे हाथ से रास्ते के ऊपर सहारा ले लेकर चल रहा हूँ। यह तो चलना नहीं, रेंगना है। ऐसी भीषण चढ़ाई को हम गत दो दिनों में पार नहीं कर सके। चुपचाप रेंग रहे हैं, बीच-बीच में कोई दुःखी यात्री मुख से एक प्रकार की आवाज कर उठता है—फाँसी की रस्सी से लटकने के वक्त अपराधी के मुख के भीतर से किस प्रकार की आवाज निकलती है? चलते-चलते देखता हूँ तो पथ की धार पर खिदिरपुर की वही निर्मला बैठकर रो रही है। एक तो वह परिश्रम के भय से भोजन बनाकर खाती नहीं, उसके ऊपर यह चढ़ाई, अहा बेचारी!—बेचारी! अभागिनी को बहुत कष्ट है, बहुत! मरने को क्यों आई? मर तू, जा मर, चूल्हे में जा!

फिर एक-एक कदम सावधानी से चल रहा हूँ। कमंडल का जल समाप्त हो चुका है, गला सूख गया है, दोनों आँखों में ज्वाला है—होने दे यह सब, चल, आगे चल! गोपालदा कहाँ हैं? वही जंगली भालू की तरह कुत्सित मनुष्य? उनका चेहरा ऐसा हो गया है मानो अध-जला रोएं उठा एक कम्बल। पाप, यह सब पाप! मेरे दोनों ओर पाप की शोभा-यात्रा, कलुष-कालिमा की प्रदर्शनी, असुन्दर और अश्लीलता का मेला। यह कोई आनन्द नहीं देते, दुःख देते हैं, इनके चेहरों पर समस्त जीवन के पापों की छाप है, कुकर्मों का दाग है, लिप्सा, लोभ और वासना के श्मशान; संसार इन्होंने घृणा कर छोड़ दिया, तभी तो ये लोग उस पाप के बोझ को हल्का करने के लिए तीर्थों में घूम रहे हैं। इनके ऊपर देवताओं की दया तथा करुणा होगी? दया और करुणा क्या इतनी सुलभ हैं? उस दिन तुम भाग्यहीन कहाँ थे—

जिस दिन तुम्हारे जीवन में रूप की उज्ज्वलता थी, मन का ऐश्वर्य था ; जिस दिन था तुम्हारा यौवन ? यौवन में क्या किया ?

थोड़ा खड़ा होने को जी चाहता है, प्यास से छाती फटी जा रही है, यह होता रहे—फिर घोंघे की चाल से आगे बढ़ूँ। उस पार दूर पर्वत के शिखर पर गुप्तकाशी का छोटा-सा शहर दिखाई दे रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि न जाने कितने समय और कितने दिन आगे उसी शहर को पीछे छोड़ आया, गत जीवन के पृष्ठों में वह मानो सामान्य एक स्मृति की तरह जड़ा रहा। प्रतिदिन हम पूर्व दिन को भूल जाते हैं, प्रति प्रभात को हमारा नव-जन्म होता है। हम मानो चिरकाल के तीर्थयात्री हैं, चिर-तीर्थ-पथिक हैं, जन्म-जन्मान्तर पार कर चिर-सुन्दर के चरणों की ओर चल रहे हैं ; इसी तरह चली थी एक दिन श्रीमती विरह के शत वर्ष पार होने पर श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में आत्माञ्जलि देने के लिए। प्रेम की तपस्या ही ऐसी है, वेदना में ही उसका रूप खिलता है, उसके हृदय में दुःखलोक है जो चिर-दुर्लभ है, जिसके लिए यह दुर्गम पथ-यात्रा, यह पीड़न है, जिसके लिए यह यंत्रणादायक पथ की प्राणान्तकर तपस्या है, उसी रूपातीत रूप को मैं चाहता हूँ, वह मेरी आशा की परितृप्ति है, मेरी सबसे बड़ी और अन्तिम प्राप्ति है। आज के इस यात्रा-पथ की ओर देखकर अकस्मात जीवन का रहस्यमय गति-तत्त्व मानो आँखों के सामने उद्घाटित हो उठा। नारी की गति मिलन के पथ पर, पुरुष की गति विरहलोक में। नारी चल रही है परम पुरुष के चरणों में आत्मदान करने के लिए, पुरुष चलता है परम ज्योतिर्मयी को आविष्कार करने के लिए। मिलन के आनन्द में नारी अपने को अतिक्रम करती है, आविष्कार के आनन्द में पुरुष अतिक्रम करता है जीवन को। नारी सृजन करती है प्रेम का सुकोमल मर्त्यलोक, पुरुष सृष्टि करता है विरह का सुदूर स्वर्गलोक ! नारी की तपस्या आनन्दमय बन्धन है, पुरुष की दुःखमय मुक्ति है।

रहने दो स्त्री-पुरुष का गति-तत्त्व। हृदय का रक्त सूखने पर, दुस्तर पथ पार होने पर, जिस समय उखीमठ की धर्मशाला में आकर पहुँचा, उस समय दिन के समाप्त होने में और देरी नहीं थी। बहुत छोटा शहर नहीं। कई विशृंखल नागरिक साज-सरंजाम इधर-उधर बिखरा पड़ा है। जैसे, एक बाजार, थाना, छापा-खाना, अस्पताल और कम्बलीवाले का सदाव्रत। उखीमठ का संस्कृत नाम उषामठ है। प्राचीन काल में यहाँ बाणासुर की राजधानी थी।

उसकी कन्या उषा को श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध ने अपहरण किया था। श्रीकृष्ण के ही उपयुक्त वह पौत्र था। हमारी धर्मशाला से बिलकुल जुड़ा हुआ एक भारी मन्दिर था। इसी मन्दिर में केदारनाथ के पुजारी रावल महाशय का वास-स्थान है, शीतकाल में केदारनाथ के प्रति पूजा यहीं से निवेदित की जाती है। आज तक हमने कुल अठारह दिनों की यात्रा की है। अठारह दिन पूर्व हमारी मृत्यु हो गई थी, हम सभी प्रेतात्मा हैं, आज यदि कोई आत्मीय हमें देखें, तो हमें न पहचान सकेंगे और मुख फेरकर चले जायँगे। हम भी उन्हें नहीं पहचानेंगे, पहिचान लेंगे तो वे भयभीत होकर भाग जायेंगे; पूर्वजन्म के परिचय को प्रेत जन्म में क्यों लाया जाय? मन्दिर में कुछ देर टहलकर बाहर आँगन में आकर बैठ गया। पास ही में एक दुकान है, दुकान अच्छी है, उसी के नीचे लकड़ी की एक चौकी का आश्रय लिया। मन्दिर के पास ही पुलिस का थाना है, इसलिए जमादार और दारोगा ने चौकी के पास बैठकर बातचीत शुरू कर दी। मालूम हुआ कि थाने में खर्च तो है किन्तु उससे आमदनी नहीं है, माहवारी वेतन देकर सबको अब अधिक दिनों तक नहीं पाला जा सकता है। थाने की दरिद्रता का हाल सुनकर यहाँ के जनसमाज के सम्बन्ध में अच्छी ही धारणा हुई। चोरी, डाके और अन्य सामाजिक अपराध कम होते हैं, गढ़वाल ऐसा ही देश है।

दारोगा बाबू के हाथ में एक पुराना अँग्रेजी समाचार-पत्र देखकर चकित रह गया। तब क्या हम मर्त्य-जगत में वास्तव में जीवित अवस्था में हैं? आश्चर्य, आज इतने दिनों के बाद पहली बार कागज का टुकड़ा देखा; हिमालय में कहीं भी कागज नहीं; कागज मानो बाहर के संसार का प्रतिनिधि बनकर आँखों के सामने खड़ा हुआ। कंगाल की तरह हाथ फैलाकर एक बार समाचार-पत्र को देख गया। कितनी चाह और कितना आग्रह! समाचार-पत्र लाहौर का 'ट्रिब्यून' था। पंजाब, बंगाल, विलायत, अमेरिका—सभी मानो आलिंगनबद्ध हो रहे हों। महात्माजी जेल में हैं। पंचम जार्ज का स्वास्थ्य अच्छा है। एक लड़की हवाई जहाज में विलायत से आस्ट्रेलिया तक उड़ी है। मेदिनीपुर में मजिस्ट्रेट-हत्याकांड। मुसोलिनी के मुख पर ऐतिहासिक हँसी देखी गई। गोलमेज कान्फ्रेंस का परिशिष्ट। चीन के शहरों में जापानी बम-वर्षा। डी वेलरा। सुभाष बोस का कष्ट।—संवादों की ओर देखकर अपनी प्रिय पृथ्वी के देह-स्पर्श को अत्यन्त आनन्द के साथ अनुभव करने लगा। मेरी आँखों में आँसू आ गये।

समाचार-पत्र को लौटाकर चुपचाप बैठा रहा। शरीर बहुत थक गया है, चक्कर-सा आ रहा है, आज इस सामान्य रास्ते को तय करने में अतिरिक्त पीड़ा अनुभव कर रहा हूँ। जितने दिन जाते हैं उतने ही अनुपात में सहज में थक जाता हूँ। कष्ट-सहन करने की शक्ति भी कम हो गई है। शरीर में असमय में ही वृद्धावस्था तथा जीर्णता आ गई है। इसी तरह कौतूहल और आकांक्षा लेकर एक जगह आ पहुँचूँगा और ठीक इसी तरह जाने के समय अवहेलना के साथ छोड़कर चला जाऊँगा—मन में जरा भी दाग नहीं रहेगा। हम सभी जगह एक दुष्प्राप्य-सी वस्तु को खोजते फिरते हैं, कहीं भी उसको नहीं पाते—हमारी एक आँख में आशा है तथा दूसरी में आशा-भंग का मनस्ताप। यह ढूँढ़-खोज एवं व्यर्थता ही जिन्दगी का असली रूप है। जो पथ हमारे जीवन से मृत्यु की ओर चला गया है उसके दोनों तरफ कितना आना-जाना है, कितना जानना-सुनना, कितनी आशा और निराशा; कितना आनन्द और दुःख; कितना संन्यास और कितना भोग है। हम इनको छूते-छूते जाते हैं; कहीं भी बाधा नहीं, वे हमारी अग्रगति के सहायक हैं, पूजा के उपकरण मात्र हैं। जीवन का जो प्रवाह उत्पत्ति से निवृत्ति की ओर चलता है, उस स्रोत के दोनों किनारों पर कितना हास्य-रुदन है, कितना सुख-दुःख, मनुष्य का कितना छोटा-बड़ा, असंख्य विचित्र इतिहास! कहीं हम प्रेम करते हैं, कहीं स्नेह और ममता के बन्धनों की सृष्टि करते हैं, कहीं प्रतारणा और पीड़न सहते हैं और कहीं दैन्य तथा अपमान। तब भी जीवन कहीं बहकता नहीं, रुकता नहीं, परिपूर्ण आत्म-विकास की प्रेरणा से अपने वेग में सरपट चला जाता है।

संध्या आई, उसके साथ ही उतर आई अपरूप ज्योत्स्ना। शायद कल पूर्णिमा है। मालूम होता है यह वैशाखी पूर्णिमा है। उसी शुक्ला चतुर्दशी की चन्द्रिका की ओर देखकर आँखों में नींद आ गई। कहीं पर चुपचाप थोड़ा बैठते ही ऊँघने लगता हू। नींद आने से ही हम बचे हुए हैं; हमारी प्रेरणा तो निस्तेज है, हमारा उत्साह भी गतिहीन है। हम थके हैं, बहुत थके हुए। सर्वनाशिनी पथमाया हमारे गलों में रस्सी बाँधकर हमें घसीट ले जा रही है—धूल में, कंकड़ों में, पत्थरों में तथा काँटों में, हम क्षत-विक्षत हो गये हैं, तब भी न चलने का कोई उपाय नहीं, यही हमारी नियति है। पिछला पथ जिस तरह अतल में चला गया है, सामने का पथ इसी तरह अनन्त रहस्य में छिपा हुआ है।

अपने ऊपर हम लोगों का अब कोई हाथ नहीं है, नियति के सम्मुख हमने आत्म-समर्पण किया है, हमारा जीवन और मरण उससे बँधा हुआ है। हम नियति की इच्छा पर खेलनेवाले कठपुतले हैं, उसकी इच्छा के इशारे से उठते-झुकते हैं, हँसते-रोते हैं और बचते-मरते हैं। हमारे सब काम-काजों के पीछे वह चुपचाप खड़ी रहती है, उसकी अँगुली का इशारा मानना होगा, हमारी स्वतंत्र सत्ता कुछ नहीं है।

नींद आने से भी बचना सम्भव है, आँखों को तन्द्रा ने घेर लिया है। रास्ता चलते-चलते आजकल हमारी आँखों में झपकी आने लगती है। कभी-कभी बहुत दूर चले जाने पर हठात् तन्द्रा भंग होती है, यही सो, चलते-चलते मानो सो गया, किन्तु इसका कुछ ध्यान ही नहीं। चलते-चलते अपनी नाकों के खर्राटों से खुद ही विस्मित होकर परस्पर एक-दूसरे का मुँह देखने हैं! निद्रा से अचेतन होने पर कहीं किसी दिन पहाड़ से पैर न फिसल जाय, इसी आतंक से सतर्क रहता हूँ। नाल ठुकी हुई लाठी को हाथ में सख्ती से पकड़कर, ठक-ठक कर चलता हूँ। रास्ते के एक बाजू पर पहाड़ की देह है और दूसरा बाजू बिलकुल खाली है, इसलिए पहाड़ की देह से ही घिसते हुए चलते हैं। इस क्षण-भंगुर जीवन के संबन्ध में हम निरन्तर संत्रस्त रहते हैं, इसी के लिए हमारी सतर्कता है; अवश्यम्भावी मृत्यु की ओर हम क्षण-क्षण में ताकते हैं, हम सभी प्रतिदिन प्रभात से लेकर रात्रि तक मौत का ग्रास होने से अपने को बचाने में थक जाते हैं। लेकिन बावजूद इस कोशिश के वह दिन आयगा जब हम भाग न सकेंगे, हमको आत्म-समर्पण करना ही पड़ेगा। इतना साज-श्रृंगार, इतना विलास, इतना भोग और इतनी सहिष्णुता, इतना दुःख और प्रेम—सारे आयोजन मृत्यु की ही ओर हैं, सब उपकरणों के साथ एक दिन मृत्यु के चरणों पर आत्मबलि देनी ही होगी! अज्ञानी मनुष्य का स्थायित्व के प्रति तब भी इतना प्रलोभन। किसी ने बनाया है ताजमहल, किसी ने पिरामिड और किसी ने चीन की दीवार। मृत्यु को कोई चैन नहीं, वह मौके पर अपनी प्राप्य वस्तु को निर्दयतापूर्वक बिलकुल पूरी ले लेगी। अस्सी लाख जीवों के साथ मनुष्य भी उसकी दृष्टि में समान है। मनुष्य होने की हैसियत से कोई विशेष सम्मान अथवा पक्षपात उसके लिए नहीं है, उसकी ध्वंसकारक सम्मार्जिनी झाड़ू देकर सभी को एक-एक करके साफ किये देती है। आज जो नवीन हैं, जिनकी आँखों में नया प्रकाश है, जिनमें नये उद्यम की भावना और अनुप्रेरणा

है, कल वे सयाने कहलायेंगे और उनके बाल सफेद हो जायेंगे, संसार को उनकी और आवश्यकता नहीं रह जायेगी और वे मृत्यु के गर्भ में समाने के लिए दौड़ पड़ेंगे। भारी उल्लास से वे बार-बार दौड़े आते हैं और दुर्दान्त ताड़ना से बार-बार वापस चले जाते हैं। इसका नाम है जीवन।

आकाश और पृथ्वी को प्लावित कर शुक्ला चतुर्दशी का चन्द्रालोक झलमल करने लगा, पर्वतों के शिखरों पर उज्ज्वल नक्षत्र जाग रहे थे, वासन्ती हवा अपना दुपट्टा उड़ाकर भ्रमण करने लगी—मन्दिर के आँगन के एकान्त में सोने पर मेरी आँखों में नींद आ गई।

दूसरे दिन तड़के ही फिर अपना झोला-झंझट कंधे पर रखकर वही यात्रा शुरू हुई। उखीमठ पहुँचने के लिए इतना आयोजन और आकर्षण था, आज उसके प्रति यात्रियों की निर्दय अवहेलना है। हमारे जीवन से उसका प्रयोजन सदा के लिए समाप्त हो चुका है, वह पीछे से सकरुण दृष्टि से हमारे पथ की ओर देखता रहा। हमारे लिए बुलावा आया है प्रभात की दिशा से, यह संदेशा दिया है शुभ्र तारे ने, आह्वान आया है दूर-दूरान्तर से। रात्रि का अन्धकार पीछे रह गया, प्रकाश ने अपना नवीन संदेश भेजा है, हमारी यात्रा शुरू हुई। प्रातःकालीन सजल वायु बह रही है, पक्षियों का कलरव आनन्द-अभिनन्दन की सूचना दे रहा है, रास्ते के आस-पास वसन्तकालीन पुष्पों का समारोह है, आकाश का देवता रंगों की सुरंजित डाली सजाकर उषा की वन्दना कर रहा है, उसी के नीचे-नीचे तीर्थयात्रियों का पथ है। रास्ता केवल चढ़ाई का है, ऊपर ही की ओर उठा हुआ है, हम चल रहे हैं धीरे-धीरे। किसी के आगे जाने का उपाय नहीं, छन्दोबद्ध गति ही से हमें चलना होगा; जो दो क़दम पीछे है उसको बराबर पीछे ही रहना होगा। यदि वह आगे जाने की चेष्टा करता है, तब दम बाकी न रह जाने पर उसको कभी न कभी बैठना ही पड़ेगा; कोई यदि अपनी बहादुरी दिखाने लगे तो रास्ता उससे उसकी इस बहादुरी की कस-कसकर कीमत ले लेगा। शक्तिमान एवं द्रुतगामी के प्रति बाबा बद्रीनाथ का विशेष पक्षपात जरा भी नहीं, दुर्बल और बलवान को वह एक ही श्रेणी में रखकर अपने पास बुलाते हैं।

काँथा चट्टी और गोलिया बगड़ पार होकर और एक मील चढ़ाई चढ़कर, उस दिन मध्याह्न के समय हम अधमरे होकर दोपेड़ा चट्टी में पहुँच गये। न मालूम ये चट्टियाँ कब खत्म होंगी, ये मानो पथ के

किनारे बैठकर यात्रियों को निगल जाती हैं और ठीक समय पर फिर अपने पेट से बाहर निकाल देती हैं। खैर, उपमा को उलट दीजिए, इन चट्टियों के समान बन्धु पथ में और कोई नहीं हैं। जो पथ सनातन और बन्धनों से रहित है, जिस पथ पर मुक्ति का अनावृत अवकाश है, उस पथ पर नहीं चला जाता, पथिक के पैरों को उस पथ में भयानक बाधा मालूम होती है, उसका नाम मरुभूमि है—उस परिश्रान्त पथिक को सादर बुलाती हैं डाल-पात-लता आदि से निर्मित ये चट्टियाँ। दरिद्रा दुःखी माता मानो पथ के किनारे खड़ी होकर अपने थके-माँदे बाल-बच्चों की बाट जोह रही है। उसके एक हाथ में झरने का सुशीतल जल है, दूसरे हाथ में विदुर का-सा रूखा-सूखा अन्न।

भोजन और निद्रा के बाद ठीक तीन बजे फिर रास्ते पर उतर आये। उस समय धूप बहुत तेज थी, बादलों का कहीं निशान भी नहीं था, करीब तीन-चार दिन पूर्व बर्फ के गर्भ में समाधिस्थ होकर हम चले थे, उस बात को आज पसीने से तर-बतर हो जाने पर भूल ही गये हैं। इस वेला रास्ते में शीतकाल, उस वेला चारों ओर से घुमड़-घुमड़कर वर्षा-ऋतु। ग्रीष्म के बाद ही शायद एक बार दिखाई दिया सुन्दर बसन्त-काल, दोपहर की वेला में सारा शरीर शायद शीत से थर-थर काँप रहा था और रात्रि में शायद अत्यधिक गर्मी से कपड़े उतारकर चट्टी के दरवाजे के पास सोया पड़ा रहा। एक ही दिन में कभी तो शरत्काल का-सा नीलोज्ज्वल आकाश दिखाई देता है, मल्लिका और शेफाली का समारोह नजर आता है, कभी श्रावण की तरह सकरुण वर्षा होने लगती है—कदम्ब-चम्पक की शोभा; कभी ऋतुराज का बसन्त-विलास दिखाई देता है—पूर्णिमा की मधु-यामिनी; अथवा कभी शीत की शीर्णता—प्रकृति का रूखा वैधव्य-वेश आँखों के सामने आता है। प्रतिदिन हमारी आँखें विचित्रतापूर्ण ऋतु-उत्सव देखती हैं। हमारा उत्पीड़ित जीवन—वैरागियों का दल—निमीलित दृष्टि से इस सबको देखते-देखते उदासीन होकर चला जाता है।

पिछले दिन मन्दाकिनी पार करने पर ऊखीमठ के पथ में जो चढ़ाई शुरू हुई थी, वही चढ़ाई आज इस समय भी जारी है, इसका अन्त नहीं, विराम नहीं। हमारा रक्त-शोषण करना और हमें शक्तिहीन बनाना ही इस पथ का उद्देश्य है। आज सुबह रुईदास शुक्ल और पण्डितजी को पीछे की चट्टी में अकर्मण्य होकर पड़े हुए देख आया हूँ। उस बूढ़ा और भारी-भरकम मरहठा स्त्री को रास्ते में बैठे आर्तनाद करते हुए

देखा है। मनसातला की मौसी कुलियों को मनमाने दाम देकर एक काण्डी में चढ़ी है। मक्खियों के काटने के घाव और देह के चुलबुलाने से पहले तो सभी दुःखी हैं, उसपर यह चढ़ाई, जीवन की आशा अब किसी को नहीं है। निर्मला चलते-चलते कभी रुक जाती है, मालूम होता है कि रोने की चेष्टा कर रही है, किन्तु रो नहीं सकती, जिह्वा के साथ तालू का स्पर्श न हो सकने से, मुख से एक अजीब तरह की आवाज निकलती है, मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए लोगों की मृत्यु-यन्त्रणा की तरह; चलते-चलते कोई शायद यन्त्रचालित की भाँति उसके मुँह में थोड़ा पानी डाल जाता है, वह उसको गटक जाने की चेष्टा करती है, खड़े-खड़े निरुपाय होकर देखती है। कोई भी कुछ नहीं बोलता, दाँतों के साथ जिह्वा और तालू जकड़ गये हैं, कुछ भी कहने की शक्ति नहीं; उनकी एक ही बात है—अभी कितना और चलना है? रास्ता कितना और चलना है, इसका पता कैसे चले? एक ही अज्ञात पथ के यात्री हम सब हैं, कैसे यह बतलाया जाय कि उस चिर-ईप्सित दुर्लभ का मन्दिर और कितना दूर है! इच्छा होती है, कह दूँ कि तुम और आगे न जाओ, यहीं रुक जाओ, यहीं तुम्हारी सीमा और शेष है; किन्तु कैसे बोलूँ? रुकने की जगह तो यह नहीं है, इस सबको पार करना होगा, नहीं करने से काम नहीं चलेगा, पीछे हिमालय की अनन्त पर्वत-माला के गर्भ में हम खो गये हैं, रुकने से सदा के लिए रुकना होगा, अग्रगति के सिवा और हमारी कोई गति नहीं। इस पथ में जिस तरह क्षमा नहीं, सुविधा का भी उसी प्रकार अभाव है। जो पैदल चलते हैं उनकी अवस्था कितनी भी अच्छी हो, विशेष सुविधाएँ पाने का उनके पास कोई भी उपाय नहीं। यही सबसे बड़ी परीक्षा है। यहाँ छोटे-बड़े का सवाल उठने का जरा भी अवकाश नहीं, दरिद्र और धनी के लिए विभिन्न रूप में चलने का कोई पथ नहीं, अहम्मन्यता, विद्वेष, मनोमालिन्य, स्वार्थ और संकीर्णता—इन सबको प्रकाशित करने की कोई सुविधा भी नहीं। जातिवर्णनिर्विशेष हम सभी समान हैं। आहार-विहार, विश्राम-शयन और परिश्रम—सभी के लिए समान हैं। इस बात को नहीं कहा जा सकता कि फलाँ आदमी उस आदमी की अपेक्षा अच्छी तरह खाता-पीता है, रहता है; यदि कोई ऐसा कहता है तो वह मिथ्यावादी है।

पोथीवासा और बनिया कुण्ड छोड़कर संध्या के पहले हम चोपता आ पहुँचे। सामने एक बड़ी धर्मशाला, उसी में थोड़ी-सी खुली जगह

दिखाई देने से हमने ठंढी साँस ली। समतल भूमि का बहुत ही अभाव है, जहाँ कहीं भी देखें वहाँ पहाड़-ही-पहाड़ दिखाई देने से दृष्टि प्रतिहत होकर वापस आ जाती है, कहीं भी हमारी मुक्ति नहीं, मन में केवल यह भावना उठती है कि कहीं भाग चलें, किसी उन्मुक्त समतल प्रांतर को, कहीं दूर समुद्र के किनारे। कहाँ है टेढ़ा-मेढ़ा वन-पथ, गाँव से जो पथ धान के खेतों को गया है, वहाँ से नदी के किनारे को, ग्राम-वधुएँ जिस पथ पर कलश लिये फिरती हैं, और जिस पथ पर गाता जाता है—'मनेर मानुष मनेर माझे कर अन्वेषण।' वह रास्ता कहाँ है? हम इस हिमालय से अब ऊब गये हैं, पत्थरों के बाद पत्थरों का ढेर नहीं चाहते, पर्वतीय नील नदी भी नहीं चाहते, नहीं चाहते उन्मादी अन्ध झरने को।

मनुष्य का जीवन जहाँ एकाकी होता है, जहाँ वह अपने पाँवों के बल पर खड़ा रहता है, जहाँ वह सम्पूर्ण रूप से स्वाधीन होकर अपना काम खुद ही करता है, वहाँ वह अतिरिक्त रूप में असहाय रहता है। सबसे अलग होकर अपने दिन अपने ही बल पर काटना, यह तो व्यक्तिगत स्वाधीनता नहीं, उसका नाम है उच्छृङ्खल आत्मपरता। जो दुकान में रहकर खाते हैं, धर्मशाला में जाकर सोते हैं, प्रमोदागारों में जाकर भोग-विलास करते हैं, जहाँ चाहें वहाँ घूमते हैं, रोगी की हालत में अस्पताल में जाकर भर्ती होते हैं, वे स्वाधीन हो सकते हैं, किन्तु वे अभागे हैं। प्रत्येक मनुष्य के साथ पृथ्वी का कुछ लेना-देना होता है। दो बंधन तो हमको स्वीकार करने ही होंगे—स्नेह का और सेवा का। सब महापुरुषों के जीवन के इतिहास में इस स्नेह और सेवा की लीला स्पष्ट दिखाई देती है। मनुष्य के लिए दूसरे को प्रेम करना और दूसरे से प्रेम पाना; सेवा करना और सेवा लेना जरूरी है। मनुष्य की सेवा को जिसने अस्वीकार किया, जिसने स्नेह का बन्धन नहीं माना, उस हतभागी ने मानव-समाज को विषाक्त कर दिया। उसको हम बोहेमियन कहेंगे, किन्तु मनुष्य नहीं बतलायेंगे। आज यदि सभी व्यक्तिगत स्वाधीनता पाकर उन्मत्त हो उठें, यदि समाज की किसी एक व्यवस्था को प्रत्येक व्यक्ति नहीं माने, तब सारा संसार मरुभूमि में परिणत हो जावेगा; यदि पृथ्वी में स्नेह और सेवा नहीं हो, प्रेम और मोह नहीं, व्यक्ति के साथ व्यक्ति का संसर्ग नहीं—तब उसका कैसा रूप होगा? जो सभ्यता आज चारों ओर फैली हुई है, उसके मर्मसूल में सेवा और स्नेह का यह रस ही तो सिंचित हुआ है,

इसको छोड़कर मनुष्य समाज जायगा किस दिशा को ? यह जो तीर्थ-यात्रियों का दल चल रहा है, इससे अधिक स्वाधीन और कौन है ! ये तीर्थयात्री प्रेम करते हैं केवल अपने को, सेवा करते हैं सिर्फ अपनी ही । जिस तरह आज इनके पीछे बंधन नहीं, सम्मुख भी वसी तरह बाधा नहीं । ये सब अपनी पोटली सँभालते हैं, खुद ही लकड़-पत्तड़ संग्रह कर लाते हैं, अपनी ही विपत्ति और अपनी ही क्षेम कुशल में व्यस्त रहते हैं, अपनी-अपनी स्वतंत्रता ही इनका मूलमंत्र है । खुशी की बात यह है कि यही इनका असली रूप नहीं है । इनकी ओर देखने से डर लगता है, ये मानव-जीवन के स्नेहहीन कंकाल हैं, इनकी तीर्थ-यात्रा जिस दिन पूरी हो जायेगी उस दिन ये दौड़ पड़ेंगे ममता और दाक्षिण्य की स्निग्ध छाया की ओर, उस दिन ये गृह और समाज के पथ पर चलेंगे—इनको मैं जानता हूँ । इनके जीवन की सारी भूख मिटी नहीं है, भूख को रोककर, अस्वाभाविक संयम के रूप में परिग्रह कर मोह और प्रेम का कारोबार स्थगित रखकर ये आये हैं इस महा-तीर्थ के पथ पर आत्मशुद्धि की आकांक्षा से । मन्दिर के कोने-कोने में यदि कूड़ा-करकट का ढेर जमा है, तब उस स्थान में देवता का आसन प्रतिष्ठित नहीं हो सकता । जो तीर्थ के बाद तीर्थ भ्रमण करते रहते हैं, उनमें होती है केवल आत्म-ताड़ना, वे देवताओं के पीछे-पीछे तो दौड़ते हैं किन्तु देवत्व का स्पर्श भी नहीं कर पाते !

धर्मशाला की देख-भाल करनेवाले एक पंजाबी ब्राह्मण हैं । ठंढी हवा से हमें दुःखी और काँपते हुए देखकर उन्होंने कई कम्बल कहीं से ला दिये । विनयी और मीठा बोलनेवाले यह ब्राह्मण पाजामा पहिने हुए थे । यात्रियों से सामान्य दो-चार पैसे जो उनको मिल जाते हैं उसी से उनकी गुजर-बसर होती है । दूध पीने और तम्बाकू का कश लेने के बाद जब गोपालदा थोड़े स्वस्थ होकर बैठे तो उन्होंने थोड़ी देर धर्म-चर्चा की और फिर प्रणाम कर चले गये । सारे दिन गर्मी के बाद अकस्मात संध्या के समय बर्फीली हवा को पाकर हम सभी सजीव और उत्साहित हो उठे । गोपालदा प्रति पन्द्रह मिनट में चिलम पीने लगे । बन्द धर्मशाला के बाहर वैशाखी पूर्णिमा की ज्योत्स्ना चारों दिशाओं में प्लावित होने लगी—तुहिन-शीतल निभृत रात्रि ।

दूसरे दिन सुबह सर्दी में काँपते-काँपते हम भूलोकना चट्टी की धार पर पहुँच गये । आकाश में बादल छाये हुए हैं, कभी-कभी थोड़ी बूँदा-बाँदी हो जाती है । कभी-कभी विदीर्ण मेघों के खंडों में से धूप

से प्रकाशित आकाश हँस उठता है। शायद आज मार्ग में घटाटोप अन्धकार में बारिश होने लगेगी, भूलोकना पार कर कुछ दूर आगे जाते ही, बायें हाथ की ओर श्री तुङ्गनाथ का रास्ता मिला। दक्षिण का मार्ग सीधा चला गया है लालसांगा अथवा चमोली की ओर। रास्ते के किनारे कई कांडीवाले दिखाई दिये। तुङ्गनाथ के पथ में भयानक चढ़ाई है, बहुत-कुछ तो त्रियुगीनारायण की तरह है, यदि कोई चल कर दर्शन कर आना चाहता है तो वह यहाँ छोटी-सी कांडी किराये पर ले सकता है। कई गये, कोई पैदल गया और कोई कांडी से। हिमालय में सब मिलाकर चार धाम हैं—बद्रीनाथ, केदारनाथ, त्रियुगीनाथ और तुङ्गनाथ। तुङ्गनाथ से चौबीस मील उत्तर मान्धाता का क्षेत्र है। यात्री यहाँ आकाशगंगा में स्नान करते हैं, प्राचीन मन्दिर में केवल एक पुजारी है, नीरव और एकान्त पर्वत-शिखर, आस-पास में कहीं भी गाँव अथवा चट्टी नहीं दिखाई देती, सामान्य एक मात्र दुकान एक ओर टिमटिमा रही है। तुङ्गनाथ के ऊपर खड़े होने से दूर उत्तर में धवल हिमाच्छादित हिमालय का नयनाभिराम रूप दिखाई देता है। इस प्रकार के अलौकिक रूप की छटा तुङ्गनाथ के सिवा और किसी जगह से इतने भव्य-रूप में नहीं दिखाई देती। ऐसा जान पड़ता है कि महा-योगी केदार और बद्रीनाथ की श्वेत पुष्प-शय्या बिछी हुई है और उसके नीचे पास ही इन एकात्म हरिहर की सेवा के लिए बैठी हुई हैं श्यामलशोभामयी महासती।

दक्षिण का पथ तुङ्गनाथ की कमर के चारों ओर पूर्व दिशा से घूम कर पश्चिम दिशा को चला गया है, तुङ्गनाथ का दर्शन कर इसी पथ में उतर आना पड़ता है। यहाँ रास्ता अरण्यमय और निस्तब्ध है, सामान्य चढ़ाई और सामान्य उतराई है, समुद्र की लहरों की तरह हम कभी उठते हैं, कभी झुकते हैं, यह कहा जा सकता है कि रास्ते का बहुत-कुछ भाग समतल है। रास्ते में जितना ही आगे चलते हैं उतना ही जंगल घना होता जाता है और अन्धकार होता जाता है। इस समय यहाँ वसन्तकाल है, झड़ी हुई सूखी पत्तियों से रास्ता ढका हुआ है। अकेला ही वनपथ पर चल रहा हूँ, उतराई के मिलने पर हाँफना जरूर बन्द हो जाता है; किन्तु पाँव का दर्द फिर जाग उठता है। शरीर में मानो किसी स्थान में मौका पाकर पंजा मारने के लिए, व्यथा छिपी पड़ी है और सुयोग पाते ही अपना काम करने लगती है। पत्र-पल्लवों के भीतर से सर-सर शब्द करती हुई वासन्ती वायु बह रही है। इस

बार बाईं और दाहिनी ओर फिर बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ गई। जिस समय अन्तरिक्ष सुविस्तृत हो जाता है, उस समय यह समझ लेना चाहिए कि हम बहुत ऊँचाई तक चढ़ गये हैं। चारों ओर तक दृष्टि फैलाने में जो बाधाएँ थीं, वे मानों हट गईं। जीवन भी ऐसा ही है। जब संकीर्ण चेतना में हम वास करते हैं, तब हमारे मन के आकाश का घेरा भी छोटा होता है, उसका आयतन स्वल्प होता है; मनुष्य जिस समय उदारता और महत्त्व के शिखर पर खड़ा होता है उस समय वह जान सकता है कि उसके हृदय और उसकी दृष्टि का प्रसार और उनकी परिव्याप्ति कहाँ तक है। जो केवल अपने ही नोन-तेल की फिक्र में व्यस्त हैं, वे समाजबद्ध जीव हैं, जो इससे थोड़ा ऊँचा उठ गये हैं उनको देशमान्य कहा जाता है, वे राष्ट्रपति हैं। समाज और राष्ट्र की निर्दिष्ट सीमा को पार कर जो लोग और ऊपर उठ गये हैं उनको हम विश्व के कल्याणकामी महामानव, महात्मा कहते हैं। काव्य और साहित्य में भी ऐसा ही है। सुविस्तृत कल्पना, अनन्त सौन्दर्यलोक। कथा को अतिक्रम करता है सुर, छन्द को अतिक्रम करती है व्यञ्जना। जिस समय कहानी लिखी जाती है उस समय कई चरित्र सामने आकर घूमते हैं, उनकी इच्छाएँ स्वाधीन होती हैं, गति सहज होती है, वे खुद ही घटना की सृष्टि करते हैं, अपने चरित्र को इङ्गित करते हैं। किन्तु केवल चरित्र ही नहीं, केवल घटना ही नहीं—उनको साहित्य में खींच लाने का वास्तविक प्रयोजन क्या है? हमारे वास्तविक जीवन में भी तो कितने विचित्र चरित्र और घटनाओं का संस्पर्श है, किन्तु प्रत्येक का स्थान तो साहित्य में नहीं है। जो बड़े कलाकार हैं उनमें होती है यह निर्वाचन-शक्ति और होती है चरित्र और घटना के पर्यवेक्षण की विशेष भंगी। जो चरित्र की सृष्टि करते हैं वे द्रष्टा हैं, जो रस की सृष्टि करते हैं वे स्रष्टा हैं। शिल्पी द्रष्टा और स्रष्टा दोनों होता है। उसके स्पर्श से साधारण वस्तु असाधारण हो उठती है, वह हमें लोक से लोकान्तर को ले जाता है, संकीर्णता से परिव्याप्ति की ओर और जीवन से महाजीवन को।

पाङ्गरवासा चट्टी में आ पहुँचे। धूप इस समय कम है, आकाश आज प्रातःकाल से ही मेघ मलिन है। ऊपर और नीचे अरण्यमय पर्वत हैं, उसी अरण्य के गंभीर गह्वर से झरने इधर-उधर गिर रहे हैं। पास में कभी भी झरना हो तो हम जान जाते हैं—इस वक्त गिरगिट की पुकार बहुत तेज हो उठी है। सर्दी उतनी नहीं है, प्रभात का शीत

मध्याह्न के वसन्त में बदल गया है। अभी तक नहीं खयाल किया था, इस बार देखा कि सारे शरीर पर मक्खियों का दल टूट पड़ा है, इसी तरह जैसे कि शहद के छत्ते पर मधु-मक्खियाँ चिपटी हुई हों। फूँकने से भी मक्खियाँ हटती नहीं, हाथ से उन्हें हटाना पड़ता है। बीच-बीच में किसी-किसी चट्टी में लाखों मक्खियों का ऐसा एक गम्भीर गुञ्जन होता है कि कान लगाकर सुनने में भला मालूम होता है। कहीं मधुर स्वर सुनाई दे रहा है तो किसी मंडली में उदासीन। रात्रि के अन्धकार में, अर्द्ध-जाग्रत तन्द्रा में, कानों के पास जिन्होंने मच्छर का गाना सुना है, वे जानते हैं कि कैसे एक करुण अवसाद के साथ मानवात्मा सब बन्धनों को पारकर भटकता चला जाता है।

भोजन और शयन के बाद फिर बोरिया-बिस्तर कन्धे पर लेकर रास्ते पर चले आये। जूता थोड़ा फट गया है, भोजन बनाते-बनाते दोनों हाथों में आँच लगने से वे काले पड़ गये हैं, हाथ में और रोम नहीं, बर्तन मलते-मलते अँगुलियाँ रूखी और कुरूप हो गई हैं, खाने-पीने में बहुत कड़ी साधना करने से शरीर रक्तहीन हो गया है—जब बैठता हूँ तो फिर उठ नहीं सकता, जब चलता हूँ तब बैठ नहीं सकता। रास्ते में आकर यन्त्र की भाँति चल रहे हैं, रास्ता पाते ही इच्छा या अनिच्छा से दोनों पाँव अपने-आप चलते हैं। अपनी ओर देखकर हम आँखों में आँसू भरकर निःश्वास छोड़ते हैं, नींद के जोर में मुख के भीतर से एक प्रकार का आर्त स्वर निकल पड़ता है, उसके शब्द से हम .खुद ही चौंक पड़ते हैं, उस समय समझ में आता है कि मनुष्य की पीड़ित आत्मा कितने दुःख से मनुष्य के भीतर रोती रहती है।

ऊपर से नीचे अरण्य के भीतर उतरे चले जा रहे हैं। अभी साँझ होने में बहुत देर है, तब भी धीरे-धीरे अन्धकार हो उठा है। सुनने में आया कि इस अञ्चल में हिंसक जानवरों का उत्पात कभी-कभी बहुत प्रबल हो उठता है, साँप यहाँ पाँवों की आहट से भागता नहीं, मनुष्य को देखने पर गर्दन उठाकर ताकता है, पेड़ों की शाखाओं पर वह घूमता है, रास्ते के किनारे-किनारे चलता है। कभी इस स्थान में दावा-नल भड़का था, उसी के जलाने के दाग हर एक पेड़ पर लगे हुए हैं। भयभीत होकर हम सदल-बल चल रहे हैं। यदि कोई आगे जाता है तब दोनों ओर जंगल का चेहरा देखकर शंकित होकर रुक जाता है, अकारण गोलमाल से रास्ते में सरगर्मी हो जाती है—पीछे रहना कोई नहीं चाहता। कहीं-कहीं रास्ता फिसलनवाला है, काई पड़ी हुई है, कहीं-

कहीं रास्ते के ऊपर ही झरने का अविरल स्रोत बह रहा है। देखते-देखते आकाश मेघाच्छादित हो गया, बादल गरजने लगे, बिजली चमकने लगी—यहाँ वज्रपात के घोर शब्द से पत्थर फट जाते हैं, शिला-खंड स्थान-च्युत होकर नीचे लुढ़क आते हैं, वह एक भयावह विभीषिका है। देखते-देखते घना अन्धकार हो गया, सप-सप कर वृष्टि गिरने लगी। अब और कोई चारा नहीं, बारिश बन्द होने तक कहीं भी खड़े होने को स्थान नहीं, इस गहन वन में कहीं भी ज़रा-सी देर के लिए आश्रय नहीं लिया जा सकता। बारिश से भींगने में कोई नुकसान नहीं, इस अरण्य के ग्रास से अपने को छुड़ाकर चले जाने से हम आज बच जायँगे। भयार्त दृष्टि से बार-बार वृक्ष लताओं के बीच की खुली जगह से आकाश की ओर देखकर चले जा रहे हैं, शरीर काँप रहा है, रोंगटे क्षण-क्षण में खड़े हो जाते हैं। टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है, एक व्यक्ति के मोड़ पर घूमते ही दूसरा व्यक्ति नहीं दिखाई देता, सभी पास-पास हैं, किन्तु प्रत्येक ही खो गया है। अभी तक बातचीत कर रहा था, किन्तु रास्ते के नजदीक ही एक जानवर का सूखा कंकाल देखकर मेरी घिग्घी बँध गई। कभी-कभी अन्धकार में पक्षियों के पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई दे रही है, शायद अब तो वास्तव में साँझ हो गई है। वायु और वृष्टि के वेग में हमें उस अन्धकार में प्रायः दिशा-ज्ञान नहीं रह गया।

चारू की मा जो कुबड़ी होकर चल रही थी, हठात सीधी खड़ी हो गई, बुढ़िया ब्राह्मणी कुलियों की पीठ पर काण्डी में चल रही है, उसकी ओर देखकर चारू की मा भयार्त कण्ठ से बोली—तुम्हें नहीं मालूम देती मा! बूढ़ी ब्राह्मणी धीरे से बोली—क्या री?

चारू की मा चलते-चलते इधर-उधर देखकर बोली—कैसी बुरी गन्ध आ रही है। इसी के पास ही कहीं है, मा।

'दुग्गा-दुग्गा—ओ तुलसीराम, चल भाई आगे।' कहकर बूढ़ी ब्राह्मणी हठात जोर से रो उठी—पंचानन को किसी भी तरह साथ नहीं ला सकी...मधुसूदन, नारायण! तुलसीराम जैसे ही बस बूढ़ी को आगे ले गया वह कंकाल-शरीर बुड्ढा चारू की मा मेरे पास आकर हँसकर बोली—ठाकुर, कैसा डराया है ब्राह्मणी को—मरने के नाम पर इतना भय!—यह कहते-कहते अस्सी वर्ष से भी अधिक उम्र की वह मृत्युभय-हीन बुढ़िया खिलखिलाकर हँस पड़ी।—मैं यदि मर जाऊँ तब चारू रह जायगी, और मैं छोड़ ही आई हूँ...सरस्वती, भादू, हावली, और कितनी ही गायें—तीस सेर दूध रोज होगा ही, चारू का

एक पेट, वह ग्यारह वर्ष की उम्र से विधवा है…चलेगा नहीं काम बाबा ठाकुर ?

'जरूर चलेगा।'

उस भयावह पथ में चारू की मा ने चलते-चलते कितनी ही बातें की। अपने दूध के कारोबार का इतिहास, अपने भतीजे की कहानी, सेतुबन्ध-रामेश्वर और नैपाल में पशुपतिनाथ के अपने रोमांचकर साहसपूर्ण अनुभव इनमें से कुछ भी कानों में नहीं घुसा, बीच-बीच में केवल 'हाँ-हाँ' कहकर उसको उत्साहित कर रहा था। मालूम होता था चारू की मा किसी विपत्ति या दुःख से जरा भी नहीं डरती।

जैसे मूसलाधार पानी बरस रहा हो और उसके साथ-साथ कोई नाविक अनन्त समुद्र में रास्ता भूल जाय पर इतने ही में उसे एक द्वीप मिल जाय तो वह इस घटना से जितना उल्लसित हो उठेगा उतने ही हम दूर अन्धकार में एक चिराग देखकर हुए। तब तो आज हमने मृत्यु को टाल दिया। जंगल का रास्ता तब खतम हो चुका था। आः, बच गये !

अन्धकार में खोजते-खोजते चट्टी मिल गई। पास में बालखिल्य नदी की क्षीण धारा नहीं दिखाई दी, केवल नदी की एक रेखा दिखाई दी। एक छोटा मन्दिर है किन्तु उसके दर्शन करने की और शक्ति नहीं रही। धर्मशाला में स्थान का अभाव था, हमने डाल-पत्ती से बनी हुई चट्टी ही में आश्रय लिया। इसका नाम मण्डल चट्टी है। अनेक इसको जंगल चट्टी भी कहते हैं। आज की यात्रा यहीं शेष हुई। गोपालदा ने बड़े समारोह के साथ गाँजे की चिलम तैयार की।

थोड़ी रात्रि हो चुकी थी, जब कि हम सोने की तैयारी कर रहे थे, उस समय दो हिन्दी भाषा-भाषी स्त्रियाँ तथा एक पुरुष रोते-रोते आकर चट्टी के किनारे खड़े हो गये। कितनी सिसकियाँ, कितनी आकुलता-व्याकुलता ! वे बोले—महाराजजी, तुम्हारे गोड़ छूते हैं, एक लालटेन हमको दो, एक आदमी हमारा जंगल में रह गया, देओ बाबा, देओ।

इस मेघाच्छन्न रात्रि में कहाँ किस जंगल में उनका आदमी रह गया ? वह क्या अभी जीवित है ? मालूम हुआ कि वह स्त्री है ! साथ आते-आते पीछे रह गई है, इतनी देर प्रतीक्षा करने पर भी वह नहीं पहुँच पाई। हाथ में प्रकाश लेकर उसको उस दुर्गम और प्राणघातक पथ में खोजने जाना होगा, किन्तु हरीकेन लालटेन उसके लिए नहीं है। निर्मला थी नहीं, उसका लालटेन उनके हाथ में दे दिया, वे पागल

की तरह उसी रात में फिर उसी रास्ते पर चलने लगे—यह निश्चय हुआ कि लालसांगा पहुँचने पर वे लालटेन लौटा देंगे।

वे तो गये किन्तु साथ में ले गये मेरी इस नीरव रात्रि की नींद को भी। मेरा व्याकुल मन और सजग दृष्टि दोनों उन लोगों के साथ-साथ उसी निरुद्दिष्ट का संधान करते हुए इधर-उधर फिरने लगे। शायद कौन जानता है, अपने आदमी को वे कभी ढूँढ़ लें, किन्तु मैं खोजने पर न पा सकूँगा, मेरी लक्ष्यहीन कल्पना में वह मनुष्य चिर-निरुद्देश्य है और चिरकाल से मार्ग में भटकता आ रहा है; वह कभी नहीं लौटेगा।

सब सो गये किन्तु मुझको विधाता ने कठोर दण्ड दिया। शरीर में कम्बल चुभ रहा है, सारे शरीर में यन्त्रणा है, बुरी हालत है—सारी रात नदी की ओर मौन दृष्टि फैलाकर जगा रहा, नींद न आ सकी।

कल की बात भूल गया हूँ। जितने दिन बीतते जाते हैं, स्मृति शिथिल होती आती है। पिछली रात्रि की दुर्घटना? वह स्वप्न थी, वह माया थी! आज का यह प्रातःकाल ही सत्य है—यह नील आकाश, यह निर्मल प्रकाश, वसन्त के दिनों का यह अलौकिक ऐश्वर्य-संभार। गत दिन का प्रकृति का आलोड़न, प्रलयान्धकार, तूफ़ान और वज्रपात—वे अतीतकाल के हैं, पिछले जन्म की घटनाएँ हैं। हमारे सब अंगों पर उनकी छाप है, किन्तु मन में उनका ज़रा भी दाग नहीं। हम लोगों की स्मरण-शक्ति का क्षेत्र बहुत संकीर्ण हो गया है, इस वेला का इतिहास उस वेला में उपन्यास हो जाता है। जब हम खुद अपनी आपबीती को दूसरों के मुँह से सुनते हैं तो अवाक रह जाते हैं! फिर चल पड़े हैं। सुबह से ही चढ़ाई शुरू हो गई है, दीवाल पार कर यात्री-गण कीड़ों की तरह उठ रहे हैं। कीड़ों की तरह अक्लान्त, कीड़ों की तरह निर्वाक।

सूटाना चट्टी धीरे-धीरे पार की। और नहीं चला जा सकता। शरीर अतिरिक्त यन्त्रणा से थरथर काँप रहा है। आँखों से आग-सी बरस रही है, और हाथ की लाठी मजबूती से नहीं पकड़ी जा रही है। झोला और कम्बल कन्धे पर प्रबल शत्रु की तरह दबा कर रखे हैं, इनका भार और इनका पीड़न अब नहीं सहा जा सकता। इस तरह से करीब डेढ़ मील रास्ता और तै कर चुके। धूप अत्यन्त तेज़ हो उठी है, इतनी तेज़ कि शरीर जला जा रहा है। पास ही में गोपेश्वर मिला, सामने गोपेश्वर का प्रकांड प्रस्तरमय मन्दिर। अति नगण्य एक शहर का अनु-

करण, दो-एक दुकानें, पास ही में एक छोटा-सा गाँव; गाँव के बाल-बच्चे पाई-पैसा माँगने यात्रियों के पास दौड़े आये। शिव मन्दिर के सामने एक विराट् त्रिशूल खड़ा है, उसी पर बारहवीं सदी के महाराजा अनेकमल्ल की विजय-वार्ता एक दुर्बोध्य भाषा में खुदी हुई है। यात्री यहाँ वैतरणी कुण्ड में स्नान करते हैं। वे करते रहें, मैं तो एक दुकान के पास एक बड़े पत्थर के सहारे बैठ गया। माथा घूम रहा है, तबियत ठीक नहीं है। हठात् छाती के भीतर से एक ऐंठन होते ही उसी रास्ते के पास कै कर डाली। भगवान, यह क्या हुआ? दम लेने से पहले ही और एक बार कै। लोग पास से चले जा रहे हैं मुख फिराकर, वे मेरी ओर क्यों देखें, ऐसा तो बराबर होता ही रहता है।

कोई एक आदमी जो वहाँ से गुजर रहा था, कह गया, एक कांडी कर लो यार—जय बद्रीविशाललाल की!

नहीं, नहीं, समय नहीं, सभी आगे चले गये। अरे शान्त, अरे श्रान्त, अरे भग्न, और एक बार उठ खड़ा हो, कंधे पर रख ले झोला-कम्बल, लाठी और लोटा उठाकर चल, अपनी पहली शक्ति को फिर वापस ले आ, विदीर्ण कण्ठ से जोर से पुकार उठ—

'व्याघात आशुक नव-नव,
आघात खेये अचल र'व,
वक्षे आमार दुःखे बाजे
तोमार जयडंक;
देबो सकल शक्ति, ल'ब
अभय तव शंख *

जल्दी-जल्दी भाग चला। मृत्यु मानो पीछे से मुझे मार-मारकर आगे को धकेल रही है। दिन का उज्ज्वल प्रकाश मिट गया है, केवल नील अन्धकार है, आकाश हिल रहा है, बिल्कुल भीतर धँसी हुई आधी मुँदी आँखों से गरम आँसू गिर रहे हैं। मैं क्या पागल हो गया हूँ? मैं क्या नशे में उन्मत्त हूँ? इस प्रकार पाँव क्यों काँप रहे हैं? सारा

* आवें, दुःख आवें नित नव-नव,
उन्हें सहूँगा अविचल, नीरव,
दुःख में मेरे उर-स्पन्दन में
बजता है जय-डंक तुम्हारा!
मैं अपनी सब शक्ति लगाकर
प्राप्त करूँगा अभय शंख तव!

मन प्रचंड प्रतिवाद कर इस तरह बेचैन क्यों हो उठा है ? न मालूम किस आशा को लेकर चल रहा हूँ और वहाँ जाकर क्या पाऊँगा ! क्या वहाँ मेरी सब आशाएँ पूरी हो जायेंगी, सब इच्छाओं का अन्त हो जायगा ? ऐसा जान पड़ता है कि उसके पास से मैं अपना लेना ले लूँगा जिसकी आशा से मैं इस अकाल-मृत्यु के हाथ को हटाकर चल रहा हूँ, जो मेरी ही प्रतीक्षा कर रहा है। वह मेरे कंठ को देगा परम वाणी, कान में भर देगा आत्म-प्रकाश का मूल-मंत्र, सौन्दर्य-सृष्टि के स्रोत का मुख खोल देगा, देगा शक्ति और साहस से पूर्ण विशाल हृदय, अनन्त प्रेम और अकृपण दाक्षिण्य देगा, आँखों को देगा अनिर्वाण स्वप्नालोक और हृदय में अनन्त वह्नि-क्षुधा प्रज्वलित कर देगा।

बालू-पत्थर के पहाड़, सूर्य की किरणें नाना रंगों में प्रतिबिम्बित हो उठती हैं, पास में वन-गुलाब का जंगल है, दाड़िम और अखरोट के वन हैं। उसी के बाद बाईं ओर को रास्ता जाता है। पथ पर मुड़ते ही देखा कि बहुत नीचे चमोली शहर तथा लालसांगा हैं। उसी के नीचे अलकनन्दा नदी के उस पार पतले सूत की तरह महाप्रस्थान का वही पुरातन शीर्ण पथ कर्णप्रयाग होकर लालसांगा में आकर मिला है, उसी पथ से यात्री वापस लौट जाते हैं। करीब एक घंटा चलने के बाद, अलकनन्दा का पुल पार करने पर लालसांगा की धर्मशाला में आ गये।

केदार, बदरी और कर्णप्रयाग का चमोली केन्द्रस्थल है। शहर है बिलकुल छोटा, लेकिन है समृद्ध। यहाँ गढ़वाल जिले की एक अदालत महकमा जंगलात का दफ्तर, कलक्टरी, पुलिस, कुली-एजेन्सी, अस्पताल, विद्यालय, बाजार, सदाव्रत और डाकघर आदि शहर की नित्य प्रयोजनीय वस्तुएँ दिखाई दीं। अकर्मण्य यात्री यहाँ से बद्रीनाथ तक भाड़े पर घोड़ा ले सकते हैं।

धर्मशाला में गोपालदा और बूढ़ियाँ दिखाई दीं, किन्तु बातचीत करने को तबियत नहीं हुई। वे लोग केवल एक बार मेरी ओर ताककर बोले—अरे दादा, तुम्हें क्या हुआ ?

कुछ न कह सका, केवल बड़ी मुश्किल से कम्बल बिछाकर सो गया। आँखें मूँदकर चुपचाप पड़ा रहा। मानो मिट्टी के अन्दर घुसता जा रहा हूँ। गोपालदा मेरे पास चले आये, भयभीत होकर शरीर और माथे को कुछ देर हाथ से सहलाकर बोले—हाँ, जो कुछ सोच रहा

था वही हुआ है, यह धूप की गर्मी नहीं है, तुम्हारा शरीर तो बुखार से जला जा रहा है। क्या होगा ?

क्या होगा, वह सभी जानते हैं, गोपालदा को भी यह बात मालूम ही है; उनकी सस्नेह उक्ति भी विद्रूप की तरह कानों में गूँज उठी। किन्तु उस समय उत्तर देने की और सामर्थ्य नहीं थी, ज्वर से मैं बेहोश था। माथा ऊँचा कर खड़ा होने की अब मुझमें शक्ति नहीं। हमारा जो बहुत बड़ा दल एक दिन हृषीकेश से चलकर देवप्रयाग पहुँचा था, छिन्न-विभिन्न हो गया है। कोई लौट गया है, कोई रुक गया है, कोई अकर्मण्य होकर कहीं पीछे निरुद्देश्य हो गया है, कोई मृत्युमुख में जा पड़ा है! हमारे दल में तीन व्यक्ति नहीं हैं, आज मुझको भी रुक जाना पड़ा! बाईस दिनों में मैंने सारा रास्ता खत्म किया, केवल थोड़ा-सा पथ शेष रह गया है, बहुत ही थोड़ा, सिर्फ अड़तालीस मील, शायद एक बार ही तेज भागकर इसे खत्म कर देता, किन्तु वह नहीं हो सका। ज्वर से पीड़ित पंगु होकर इस पथ के किनारे अनिश्चित काल के लिए पड़ा रहा। गोपालदा ने केवल अस्पताल की दिशा दिखा दी।

किसी प्रकार सामान्य रूप से खा-पीकर हमारे इस परम प्रिय दल ने यात्रा का आयोजन किया। मुझमें साँस लेने की भी शक्ति नहीं थी, बोलने की ताकत नहीं थी, उनको विदा देने के लिए उत्साह भी नहीं था, केवल चुपचाप पड़ा रहा। जाने के समय चारू की मा ने दिया थोड़ा जल, गोपालदा दे गये सहानुभूति और शुभकामना। कह गये— फ़िक्र मत करना, सब बाबा (बद्रीनाथ) की इच्छा है। लौटते समय इसी रास्ते से आना होगा, ईश्वर करे हमारे लौटने तक तुम चंगे होकर यहाँ से चले जाओ। ज्वर कम होने पर कुछ खाने की कोशिश करना।

इतना पाने की आशा भी मैंने नहीं की थी, इस सामान्य महत्त्व के स्पर्श से हृदय उद्वेलित हो उठा। इन लोगों को मैंने कभी नहीं चाहा था, आज यह जान पड़ने लगा कि ये मेरे कल्याणकामी हैं। कम्बल के भीतर से मुख बाहर निकालकर सोया ही रहा, उन्होंने धीरे-धीरे विदा ली और जाते समय फिर एक बार कह गये—तीन-चार दिन से तुम्हारा मिजाज जिस तरह रूखा हो गया था, उसी से यह साफ़ जान पड़ता था कि तुम्हारी तबियत अच्छी नहीं है।

निर्जन धर्मशाला, सिर की ओर नीचे अकलनन्दा का कलकल रव सुनाई दे रहा है। पास ही में कहीं से एक-आध मनुष्य के गले की

आवाज़ कानों में आ रही है। देखते-देखते सिर के पास अपराह्न की धूप पड़ने लगी। बसन्त की सरसराती हवा बही जा रही है। सामने लाल और सफ़ेद पत्थरों के दो पहाड़ सूर्य की किरणों में एक आश्चर्यजनक रूप धारण किये हुए हैं। नदी के उस पार जिस पथ से हम आये हैं वह पथ-रेखा स्वप्नलोक की तरह दिखाई दे रही है। धीरे-धीरे मेरी रुग्ण और गतिहीन दृष्टि फिर बन्द हो गई। सारे शरीर को ज्वर की असह्य यंत्रणा और ज्वाला ने घेर लिया, और अब मेरी कोई आशा नहीं। मन ही मन में सभी से होश-हवाश में विदा ले ली। जन्मभूमि की ओर देखकर उसका अभिवादन किया।

कितनी देर तक पड़ा रहा, इसका पता नहीं; लेकिन एक बार उठकर पागल की तरह भाग चला और धर्मशाला के पीछे के मार्ग में उतर आया। उस समत अपराह्न की वेला ढलकर संध्या की ओर जा रही थी, अधिक वक्त नहीं था। बालू और पत्थरों से भरे कठिन मार्ग से चलकर सीधे नदी के किनारे पहुँच गया। दो-चार साधु-संन्यासियों की मंडलियाँ इधर-उधर बैठी थीं। अपनी भलाई-बुराई का ज़रा भी ख़याल न कर गहरे जल में उतर आया, धारा बहुत तेज़ थी, कुछ दूर जल के बीच में जाकर एक बड़े पत्थर को बाहों में भरकर डुबकी लगाई।

करीब आध घण्टे तक बेपरवाही से स्नान कर जब धर्मशाला में आया तब शरीर थोड़ा स्वस्थ हो गया था। विष से ही विष दूर हुआ। और कहीं न देखकर झोला-झंझट और लाठी लेकर अकेला रास्ते पर चला आया। उस समय साँझ हो चली थी। होने दो, इस समय थोड़ा रास्ता पार किया जा सकता है। मैं उस दिन बेचैन होने के कारण अति साहसिक बन बैठा था।

किस तरह कई चट्टियाँ पार हो गईं, आज उनकी स्पष्ट याद नहीं है। रात में एक जगह आश्रय लिया। दूसरे दिन पीपलकुण्ठी पार की। रास्ते के पास तर सब्ज फूली कें कई छोटे पेड़ पाये गये। लाल फूलों के समारोह के ऊपर नवीन सूर्य की किरण-घटा फैल रही है। यहाँ बाघ व भालू की खालें खूब सस्ते दामों में बेची जाती हैं। पीपलकुण्ठी में गढ़वाली लड़कियाँ कम्बल का व्यापार करने आती हैं। मध्याह्न में आकर गरुड़गंगा की चट्टी में पहुँचा। यहाँ गरुड़गंगा और अलकनन्दा का संगम है। गरुड़ का मन्दिर और साधारण शहर मिले। यह बात प्रचलित है कि लौटने के समय गरुड़गंगा में एक डुबकी लगाकर पत्थर का एक छोटा-सा टुकड़ा तोड़कर कोई घर ले जाकर उसकी पूजा करे

तो साँपों का भय नहीं रहता। गरुड़गंगा से पातालगंगा तक चार मील की चढ़ाई का रास्ता है। रास्ता चीड़ और देवदार के पेड़ों से घिरा हुआ है, निकुञ्ज की तरह। संध्या को पातालगंगा की चट्टी में पहुँचकर विश्राम लिया, पास ही में गणेश का मन्दिर है, पातालगंगा अलकनन्दा में मिली है।

दूसरे दिन सुबह से ही चलना प्रारम्भ हुआ। साथ में कई अपरिचित यात्री चल रहे हैं। गोपालकुण्ठी को पारकर मध्याह्न में कुमार चट्टी में आ पहुँचे। मैदान रास्ता है, चट्टी की प्राकृतिक शोभा दर्शनीय है। पास ही में कर्मनाशा नदी है। भोजन करने के बाद कुछ देर आराम कर चल पड़ा। कहीं अकारण अधिक समय तक ठहरना अच्छा नहीं लगता, बल्कि रास्ते में जगह-ब-जगह बैठकर आराम करना ही मेरे उपयुक्त है, रास्ता ही मेरा सब-कुछ है।

झड़कूला और सिंहद्वार पार करने के बाद सन्ध्या के कुछ पहले जिस स्थान में आ पहुँचा वह मेरे बचपन से अब तक का स्वप्न जोशीमठ था, थोड़ी-थोड़ी बारिश हो रही है। फिर अधिक सर्दी लगने लगी है, जोशीमठ नामक यह छोटा-सा शहर प्रसिद्ध है, इसका संस्कृत नाम ज्योतिर्मठ है। इसी स्थान से ही शंकराचार्य का उत्तर धाम शुरू हुआ। बद्रीनाथ के पुजारी रावल महाशय यहाँ रहते हैं, जाड़े के दिनों में वे यहीं से बद्रीनाथ की पूजा करते हैं। नृसिंहदेव तथा अनेक देवताओं के मन्दिर यहाँ हैं, सभी मन्दिर एक आँगन के चारों ओर स्थित हैं। यहाँ नभोगंगा में स्नान करने की अपेक्षा दंडधारा में स्नान करना उत्तम है। असल में तो दोनों ही अव्यवहार्य हैं—इन ताल-पोखरों में घड़ा भी नहीं डूब पाता। जोशीमठ छोटा शहर तो है लेकिन उखीमठ की अपेक्षा बड़ा है। बाज़ार, डाकघर, छापाखाना, सदाव्रत, रहने के मकान—क्या नहीं है? पास ही में तिब्बत और मानसरोवर जाने का पथ है। अनेक लोग यहाँ से कैलाश और मानसरोवर को जाते हैं। करीब तीन मील आगे जाते ही भविष्यबद्री के दर्शन होते हैं। धर्मशाला में जाकर कुछ देर आराम करते ही जाड़े से शरीर काँपने लगा, पास ही में पहाड़ों की चोटियों पर थोड़ा-थोड़ा सफेद बर्फ दिखाई दिया। हिम के सम्बन्ध में भय की एक भावना उत्पन्न हो गई। जोशीमठ का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त सुन्दर है।

रात्रि के शेष-काल में जाड़े से थर-थर काँपते हुए अकेला ही जोशीमठ से विदा लेकर उतराई मार्ग में उतरने लगा। तीन मील रास्ता

उतराई का है, पाँवों की व्यथा जाग उठी। तीन मील रास्ता तय कर नदी के पुल को पार कर जिस समय श्रीविष्णुप्रयाग पहुँचा उस समय साँझ हो गई थी। यहाँ विष्णुगंगा अथवा अलकनन्दा तथा धवलीगंगा का संगम है। प्राचीन काल में यहाँ विष्णु की आराधना कर नारदमुनि ने सर्वज्ञ होने का वर प्राप्त किया था। नीलवसना अलकनन्दा की गोद में गैरिकवसना गंगा का आत्मसमर्पण इस स्थान में एक रोमांचकर तथा नयनाभिराम दृश्य उपस्थित कर देता है। यहाँ से बद्रीनाथ केवल सोलह-सत्रह मील रह जाता है।

धवली गंगा के किनारे-किनारे रास्ता बहुत सँकरा तथा खतरनाक है; थोड़ा मैदान तथा थोड़ा चढ़ाई का। खड़ी दीवाल की तरह चढ़ाई नहीं है, साधारण है। कहीं सारा रास्ता टूटकर नदी के मध्य में विलुप्त हो गया है। कहीं पत्थर पड़े हुए हैं, उनको पार करना एक दुस्साध्य कार्य है। कहीं रास्ता ही नहीं, झरने के जल के ऊपर से ही चलना पड़ता है। कहीं स्तूपाकार बालू और पत्थरों के टुकड़े हैं, अत्यन्त सावधानी से पाँव रखकर आगे चलना पड़ता है। कल से संगमरमर पत्थर के पहाड़ दिखाई दे रहे हैं, कोई हंस के पंखों की तरह सफेद हैं, कोई गुलाबी हैं, और किन्हीं में नीले रंग और हलदी के रंग का समावेश है। दोनों ओर सफेद पत्थर, बीच में कल-कल करती गंगा बह रही है। थोड़ी-थोड़ी चढ़ाईवाले पथ पर केवल मैं ऊपर की ओर उठता चला जा रहा हूँ, निश्चय ही आज की चढ़ाई से छाती में दर्द नहीं होता किन्तु थकावट उत्पन्न हो जाती है—पाँव काँप रहे हैं। बुखार नहीं है। किन्तु शरीर स्वस्थ नहीं हुआ है। अधपेट खाने तथा उपवास करने से शरीर बेंत की भाँति हिल रहा है। घाट चट्टी पार कर दो मील चढ़ाई चढ़ने के बाद बहुत देर में थके-माँदे शरीर को लेकर पांडुकेश्वर गाँव में आ पहुँचा।

गाँव बुरा नहीं है, नदी के ऊपर ही है। ग्राम का ऊँचा-नीचा रास्ता, शाखा-पत्तियों तथा पेड़-पौदों के तनों से तैयार की गई कई चट्टियाँ, छोटी एक धर्मशाला, पास ही योगबद्री का मन्दिर। एक औषधालय दिखाई दिया, वहाँ झाड़-फूँक, मंतर-जंतर आदि का कारबार था। सामने पर्वतशिखर पर पांडुराजा वास करते थे, मन्दिर में ताम्र शासन-पत्र मौजूद है। स्थानीय लोगों ने यह समझाने की कोशिश की कि इसी रास्ते से एक दिन पंच पांडव तथा द्रौपदी ने स्वर्गारोहण किया था, इसके प्रमाण-स्वरूप उन्होंने कितने ही चिह्न तक दिखाये। हम स्वर्गद्वार तक जायँगे या नहीं इस संबन्ध में अनेकों प्रश्न किये। शीत

प्रधान देश है, इसी लिए यहाँ के साधारण निवासी सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट हैं। आज के रास्ते के आस-पास भोज-पत्र के बहुत पेड़ हैं, बीच-बीच में किसी-किसी चट्टी की छत तो मोटे-मोटे भोज-पत्रों से तैयार की गई है। कहीं-कहीं जवाफूलों की तरह पहाड़ है, कोई पहाड़ उज्ज्वल काले रंग का है, कोई नीले आकाश की तरह और कोई पहाड़ दूध की तरह सफेद रंग का है—निर्वाक तथा चकित होकर देखते-देखते हम लोग चले जाते हैं। खाने-पीने के बाद फिर चलना शुरू किया है। पानी से भरे बादल बीच-बीच में सूर्य-लोक को ढँककर आकाश में तैरते हुए-से चले जा रहे हैं और हम नदी के किनारे चल रहे हैं। गंगा की धारा अब नीले रंग की नहीं है, कोमल मटमैले रंग की है। नदी इस समय हमारे दक्षिण की ओर है। पथ के निर्देश पर अनेकों बार एक ही नदी के इस पार-उस पार जाना होता है। जितनी दूर भी दृष्टि जाती है केवल ऋजु-कुटिल अनन्त कंकड़-पत्थरों से भरी हुई गंगा गर्जन-तर्जन करती भागती दिखाई देती है। पथ से उतरकर पत्थरों का ढेर पार कर नदी के जल को छूना असाध्य कार्य है, यह असंभव है। फिर नदी की समतल भूमि को छोड़कर ऊपर की ओर रास्ता गया है, थोड़ी-थोड़ी घृणोत्पादक चढ़ाई है, घुटनों में दर्द होने लगता है। कभी-कभी बद्रीनाथ से लौटते हुए दो-चार प्रसन्नमुख यात्री दिखाई दे रहे हैं। सभी के मुख पर खुशी है, आनन्द है और बदरी-नाथ का कीर्तन है। कंगालों की तरह उनकी ओर देखकर फिर आगे चलता हूँ।

लामबगड़ चट्टी पार हुई। रास्ता आहिस्ता-आहिस्ता ऊपर को उठा है, सिर्फ उठता जा रहा है। इस बार नदी भी उठ आई है, उसका प्रवाह मुखर है, भीम गर्जन करती हुई नीचे को दौड़ रही है। पत्थरों के साथ नदी का खेल देखने पर फिर आँखें नहीं फिराई जा सकतीं। कितनी ही बार जाते-जाते रुक जाते हैं, आँखें भरकर देखते-देखते मन में उस छवि को अंकित कर लेते हैं, फिर एक निःश्वास छोड़कर आगे बढ़ते हैं। नदी की अविश्रान्त गति की ओर देखकर मनुष्य का मन क्यों बोझिल हो उठता है, यह तो नहीं बतला सकता, किन्तु जल की प्रखर धारा धमनियों के रक्त को जिस तरह हिला देती है वह मैं जानता हूँ। एक जगह आकर रुकना पड़ा, इस तरह का ढालू और रपटदार रास्ता है कि बैठे-बैठे नीचे उतरने के सिवा और कोई चारा नहीं। बैठे ही बैठे नीचे की ओर लाठी टिकाकर नदी के किनारे उतर आये। इस

पार से उस पार जाना है, बीच में रस्सी का पुल है। यह रस्सी का पुल अत्यन्त स्वदेशी, प्राचीन और अकृत्रिम है। इस पार के पहाड़ के साथ उस पार के पहाड़ के पत्थरों से बँधे दो जोड़े मोटे रस्से, उन्हीं रस्सों के साथ बँधे हुए कई तख्ते— यही पुल है। इसी के ऊपर भयार्त महाप्राणी को पार जाना होता है। और कोई उपाय नहीं, मरने का तो क्षण-क्षण में डर है। आँखें मूँदकर, कम्पित देह से, भय और सावधानी के साथ पुल पार कर लिया। पार हो जाने पर जिस पथ को स्पर्श किया उसका रूप देखकर तो आँखें स्थिर हो गईं। एक खड़ा स्मृति-स्तम्भ-सा जिसपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ नहीं। बाबा बद्रीनाथ और कितनी बाधाएँ तथा कितने विघ्न उपस्थित करेंगे? किन्तु बाबा अभी आठ-नौ मील दूर हैं, इस पथ को सुगम कर देना उनके बाप के लिए भी साध्य नहीं है! तब क्या हो, पत्थर और मिट्टी की दीवाल खुरचते-खुरचते, नाक घिसते-घिसते, लेटकर, चित होकर, बद्रीनाथ के पुरखाओं की चौदह पीढ़ियों का श्राद्ध करते हुए, लाठी को दाँतों से मजबूत पकड़कर, भारी परिश्रम से अन्त में एक समय ऊपर उठ गया। धन्य तीर्थ! लेकिन, यही तो बाबाजी के मन्दिर में जाने के लिए राजपथ है, नान्यः पन्था। इतना धैर्य धारण कर और इतना कष्ट सहन कर जा रहा हूँ, पहुँचने पर दिखाई देगा शायद एक पत्थर का स्तूप अथवा किम्भूत किमाकार एक तथ्यहीन गोलमाल। तीर्थकामियों की श्राप-युक्त कातरता से बद्रीनाथ चिरगौरवान्वित हैं। नीरोग, युवा, आनन्दो-ज्ज्वल, सुगठित देहवाले तथा बलिष्ठ यात्रियों के ऊपर बद्रीनाथ की दृष्टि नहीं है; मुमूर्षु, असमय में ही वृद्धावस्था को प्राप्त हुए, पीड़ित देहधारी, चलने-फिरने की शक्ति से भी हीन— इनके बिना उनका काम नहीं चल सकता। इनके कारण ही उनकी इतनी महिमा और इतना गौरव है। जो पथ उनके भक्तों के आने का पथ है उसमें उन्होंने दुर्भिक्ष, महामारी का भय, महासंकट, अकालमृत्यु और भयंकर व्याधियाँ फैला रखी हैं। आर्त का आर्तनाद ही उनकी पूजा का मन्त्र है, मनुष्य के बाह्य कलुष और मालिन्य से ही उनका आनन्द आयोजन है। दुःख दुर्योग और पीड़न के द्वारा ही तीर्थ-यात्री अपनी आन्तरिकता की परीक्षा देते हैं, इसी लिए यह जान पड़ता है कि उनकी शारीरिक गन्दगी से बद्रीनाथ का पथ और मन्दिर अपवित्र नहीं होते।

हनुमान चट्टी में पहुँचकर उस दिन की यात्रा खत्म की। भारी सर्द हवा से सारा शरीर थर-थर काँप रहा है, फिर बर्फ के किनारे पहुँच

गये हैं। आकाश में बादल छाये हैं, बारिश हो रही है, चारों दिशाओं में अँधेरा छा गया है। कल सुबह चलकर बद्रीनाथ पहुँचेंगे, यात्रा खत्म होगी। पास ही में हनुमानजी का प्राचीन मन्दिर है, किन्तु भीतर घुसकर दर्शन करने की सामर्थ्य नहीं है। बायें हाथ की ओर एक पक्के धर्मशाला की दूसरी मंजिल में चला आया। उस समय भीतर-बाहर बहुत यात्री वहाँ पर जमा थे।

'ओहो, यह बाबा ठाकुर! आ गये?'

फिरकर देखता हूँ तो चारू की मा। मैंने कहा—हाँ, आ गया। सब अच्छे तो हैं? गोपालदा कहाँ हैं?

भीतर से शीतार्त कण्ठ से सानन्द उत्तर मिला—भाई आओ, तम्बाकू पी रहा हूँ, सारे रास्ते में तुम्हारी याद करते-करते...सौभाग्य से इस वक्त हम लोग यहाँ से चले नहीं गये!

और सभी बोले—तुम बाबा संन्यासी नहीं हो, संन्यासी होते तो मनुष्य के ऊपर इतना आकर्षण नहीं होता!

'तथास्तु' कहकर गोपालदा के पास जाकर कम्बल बिछाया। उस समय भयंकर सर्दी से हाथ-पाँव ठिठुर रहे थे। चारों ओर से शीत-जर्जर संध्या धरती पर उतर रही थी।

❀ ❀ ❀

यात्रा करो, यात्रा करो, यात्रीदल,
मिला है आदेश,
अब नहीं समय विश्राम का।

पौ फटने के समय के तरल अन्धकार में काँपते-काँपते सभी रास्ते में उतर आये। चारों दिशाओं में बादलों के ऊपर बादल छाये रहने से घोर अन्धकार से घिरे हुए हैं, बारिश की बूँदें चाबुक की तरह सपासप शरीर पर चोट कर रही हैं। बाईं ओर नदी की एक धारा के मोड़ पर अर्द्धचन्द्राकार रास्ता उत्तर दिशा को चला गया है। हिम-कणयुक्त तीक्ष्ण हवा से दिल का रक्त तक ठंडा हो जाता है, दाँत भी किटकिटाने लगे हैं। फिर केदारनाथ की तरह वैसा ही भयावह प्राकृतिक दुर्योग। वन-बालिकाओं की तरह लता-पुष्पालंकार-शोभित झरने यात्रियों का सादर स्वागत करने के लिए रास्ते के ऊपर ही उतर आये हैं। कहीं अब जंगल नहीं दिखाई देते, यहाँ अब उनका कोई ठिकाना नहीं, यह तो बर्फ का मुल्क है—कहीं-कहीं दरिद्रवेशधारी कई पेड़-पौदे स्वदेशी सेनाओं की तरह इकट्ठा होकर हिम के अत्याचार के विरुद्ध

दबी ज़बान से प्रतिवाद कर रहे हैं। उनके ऊपर से गुजर रहा है दुर्योग का तूफ़ान। नदी का प्रवाह कहीं लुप्त हो गया है, ऊपर जमे हुए बर्फ़ की शैया-सी बन गई है। दोनों ओर से काले पर्वतों की देह से सफ़ेद बर्फ़ की धाराएँ नीचे बह रही हैं, मानो घनश्याम वनमाली के गले में मल्लिका की मालाएँ हिल-डुल रही हों।

प्रभात हो गया है, सूर्य के आलोक से रहित प्रभात। प्रभात है अथवा गोधूली ठीक नहीं कहा जा सकता। सृष्टि का आदि युग जब आरम्भ हुआ था, उस समय सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र नहीं थे, इसी प्रकार के एक अनैसर्गिक अनुज्ज्वल प्रकाश में बैठकर विधाता अपना काम करते थे। यह प्रकाश जीवन की अन्तिम घड़ियों की तरह गतिहीन और क्लान्त है, अन्तिम दिन की तरह धुँधला और आनन्दहीन, जान पड़ता है कि स्थविरत्व का रूप ऐसा ही होता है। आज हमारी शेष यात्रा है और शेष पथ का हिसाब। जिस भारी दल के साथ एक दिन यात्रा शुरू की थी, उनके विषय में सोच रहा हूँ—उनमें से कितने ही इस समय नहीं हैं, अनेक रुक गये हैं, एक बच्चा घोड़े पर जाते-जाते पाँव फिसलने पर एक मील नीचे नदी के गर्भ में सदा के लिए अदृश्य हो गया। जो आज साथ में हैं, उनकी ओर देखकर रोना आ जाता है। किसी को पेट की कोई बीमारी हो गई है, किसी को बुखार है, किसी के कान सुन्न पड़ गये हैं, किसी की आँखें खराब हो गई हैं, कोई अब बातचीत ही नहीं करता, किसी में दिमाग़ खराब हो जाने के चिह्न दिखाई दे रहे हैं, कोई पहनने के वस्त्रों को फाड़कर पाँवों के तले में उनकी मोटी पट्टी बाँधकर लँगड़ाते-लँगड़ाते चल रहा है। कुछ दूर जाते हैं, कुछ देर बैठते हैं, पीछे के पथ की ओर बार-बार ताकते हैं; किन्तु कुछ सोचने में माथे में दर्द होता है, मस्तिष्क-विकृति के भय से जल्दी-जल्दी उठ पड़ते हैं, फिर आगे चलते हैं। अब गर्दन सीधी नहीं होती, सिर ऊँचा नहीं होता, अपने पाँवों के चिह्नों की ओर देखते हैं और चलते हैं।

'मेरे लाल ?'

उदासीन दृष्टि से मुख फेरकर देखा, कई बार इस प्रकार गतिहीन यात्रियों के कातरकंठ से सुना है, कुछ जवाब न देकर फिर मुँह फेरकर चला गया।

'और कितना रास्ता था, मेरे लाल ?'—एक श्री निःश्वास छोड़कर रो पड़ी। उसके मुख से झाग निकल रहा था, साथ में खून के छींटे भी। हाथ में रिवाल्वर होता तो उसकी यन्त्रणा का अन्त कर देता।

'थोड़ा ही है भाई।' कहकर फिर आगे चल दिया। रास्ते की ठीक दूरी नहीं बतलाई क्योंकि बतला देता तो शायद उसके दिल की धड़कन इसी समय बन्द हो जाती। रास्ते की दूरी के सम्बन्ध में किसी थके-माँदे यात्री को नहीं बतलाया जाता, इससे उसकी शक्ति और उसका उत्साह नष्ट हो जाते हैं।

कई यात्री पंक्तिबद्ध होकर चल रहे हैं। रास्ता आज अत्यन्त संकटापन्न है, कहीं-कहीं बालूमय किनारा, रास्ता नदी के बीच में धँस गया है,—अगाध नीचे नदी। भय से पाँव काँप रहे हैं। कहीं कुछ इंच मात्र किनारा है, एक ओर को झुककर, पहाड़ की देह से पीठ घिसकर, आँखें बन्द कर पार चल रहे हैं, कोई पीछे से कभी-कभी प्राणभय से आर्तनाद कर उठते हैं, केवल एक बार पाँव फिसलने से—बस, फिर दुर्घटना नहीं रुक सकेगी, हिम से ढकी नदी के गर्भ में विलीन हो जाना पड़ेगा।

कुछ देर इसी तरह अन्धे की भाँति दीवाल के सहारे टटोलते-टटोलते फिर एक अच्छी जगह में आ पहुँचे। पास में एक सामान्य पहाड़ी बस्ती है। लड़कियाँ पीठ पर लकड़ी का बोझा लेकर बद्रीनाथ की ओर जा रही हैं। केदारनाथ की भाँति बद्रीनाथ में भी जलाने के लिए लकड़ी नहीं मिलती, दक्षिण के जंगलों से लकड़ी बटोरकर स्त्री-पुरुष पीठ में बाँध ले जाते हैं, एक आने में एक छोटी आँटी देते हैं। उनकी गति-विधि की ओर देखकर ऐसा जान पड़ा कि रास्ता खतम हो गया है।

जब भूत किसी को छोड़ता है तो अन्तिम बार उसका पीड़न फिर दिखाई देता है। फिर प्रारम्भ हुई प्राणघाती चढ़ाई। चढ़ाई, चढ़ाई और चढ़ाई। चलते-चलते एक बार खड़ा होता हूँ, हृदय में एक प्रकार का अजीब कुत्सित शब्द हो रहा है, कानों में जलतरंग की तरह एक अस्वाभाविक कोलाहल गूँज रहा है।

उसके बाद ?

उसके बाद स्वप्न देख रहा था। अर्द्ध-निद्रा के आवेश में एक रूप-लोक जाग उठा, मायामय विचित्र अमरावती—सामने दूर पर एक विपुल विस्तृत हिमाच्छादित प्रांतर, उसी के पास कुहरे से ढका एक ग्राम का अस्पष्ट चित्र, बीच में स्वर्ण-मंडित-शिखरवाला एक मन्दिर, चरणों में प्रवाहित होती हुई जाह्नवी बाला !

निश्चय, निश्चय बच गया हूँ। हृदय में इस समय प्राण-चिह्न

है, इस समय धमनियों में है शेष रक्त-बिन्दु, आँखें अभी तक बिलकुल अंधी नहीं हो पाई हैं ; यही पक्षाघातग्रस्त हाथ, ये पीड़ा-जर्जर पाँव यह शुष्क नीरस देह, यह भग्न अवसन्न हृदय—ये मेरे हैं, यह मैं ही हूँ !

दुर्जय की जयमाला
भर दे मेरी फूलों की डाली

जय बदरीविशाल की जय !

१२ जेठ १३३९

आज का दिन महाकाल की जप-माला में शामिल नहीं है, आज का यह हिमकणमय कुहरा-भरा प्रभात हमारे जीवन से अलग है, मृत्यु का अंधकार ठेलते-ठेलते हम एक नवीन लोक में आ गये हैं। पहले मन में यही ख़याल हुआ; हम समझते थे कि बचेंगे नहीं। एक निर्दय प्रलोभन, अमर्त्य मरीचिका।

दूर से बद्रीनाथ का छोटा गाँव जब प्रथम बार दृष्टिगोचर हुआ तब इसी बात को विचार कर निर्वाक हो गया। आनन्द व उल्लास प्रकट करने के लिए शारीरिक व मानसिक संगति नहीं। कैसे प्रकट किया जाय ? हम इस प्रकार निर्बल हो गये हैं और हमारी शक्ति इस प्रकार शेष हो चुकी है जैसे तेल के ख़त्म हो जाने पर दीपक की दशा हो जाती है। दीर्घ पच्चीस दिन का जो दुःखमय इतिहास हमारे पीछे पड़ा है, उसको तो हम भूल ही गये हैं, आज हमारी यात्रा का शेष है, दुःख-दहन की निवृत्ति है। जिस पद-चिह्नमय पथ ने एक दिन गाँव की सीमा को पार किया था, जो नदी और जंगलों के पार गया था, देश-महादेश जिसने लाँघे थे, आज वही पथ विश्व की ओर प्रसारित हुआ है; हमारी उस दिन की सामान्य तीर्थ-यात्रा आज विराट् के चरणों को छू रही है। मन ने पूछा, तुम यही हो ? तुम्हारा यही रूप है ?—जिसके लिए आया वह तो मन्दिर में नहीं, मेरा वह तो सारे पथ में है। सामान्य मन्दिर में तो तुम बन्दी नहीं हो।

गंगा का पुल पार कर गाँव में प्रवेश किया। गाँव का नाम भी बद्रिकाश्रम है। कोई बदरी-विशाल तथा कोई नारायणाश्रम भी कहते हैं। पहले बायें हाथ की ओर एक छोटा डाकघर मिलता है। उसके बाद ही रास्ते के दोनों ओर छोटी-छोटी दुकानें नजर आती हैं। आकाश में बादल छाये हैं, बारिश हो रही है, हवा के ज़ोर तथा असह्य

ठंढ के कारण कहीं भी इधर-उधर नहीं देखा जा सकता। जल्दी-जल्दी अपने नियत डेरे में चला आया।

डेरे की शान-शौकत कम नहीं है, अच्छे पक्के पत्थरों का दो मंजिला मकान है। दरवाजा, खिड़कियाँ, ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ, सामने पत्थरों से पटा हुआ बड़ा आँगन। यह हमारे पण्डे का घर है। जिस पण्डे के यहाँ हमने आश्रय लिया है वह यहाँ काफी समृद्धिशाली है। वे पाँच भाई हैं। सूर्यप्रसाद, रामप्रसाद आदि। पुत्र का नाम प्यारेलाल है। देवप्रयाग में भी इनके प्रतिनिधि के तत्त्वावधान में हम रहे। पहिले ही इनके आतिथ्य-सत्कार ने हममें इनके प्रति कृतज्ञता की भावना भर दी। नीचे के घर में इन्होंने कई कम्बल लाकर हमारे लिए बिछा दिये, लकड़ी लाकर आग सुलगाई। इसी आग तथा कम्बल ने उस दुर्योग में हमें जीवन-दान दिया। सूर्यप्रसाद और रामप्रसाद की तरह इतने भद्र और मिष्टभाषी पण्डे तीर्थों में बहुत ही कम देखने में आते हैं। प्रत्येक बंगाली तथा अन्य प्रान्तों के यात्री लोग इनके डेरे में चले आये।

दुर्योग और ठण्ड के कारण अकर्मण्य होकर सारे दिन घर के भीतर बैठकर बहुत बेचैनी से वक्त गुजारने लगा। मक्खियाँ तो नहीं हैं, किन्तु कपड़े-लत्ते और कम्बल में कीड़ों का भयानक उत्पात है। आहारादि तथैव च। चूल्हे-चौके के लिए जगह भी नहीं है और सुविधा भी नहीं है। इसके अतिरिक्त शक्ति भी नहीं है—अतएव अमरसिंह के मार्फत पूरी मँगवाई। धन्य पूरियाँ! पूरी ही सब जगह अगति की गति है।

कैसे अपराह्न कटा ; किस पथ से आई सन्ध्या! बाहर टप-टप करके उस समय बारिश हो रही थी, हवा से बार-बार दरवाजे व खिड़कियाँ काँप उठती हैं, बन्द घर के भीतर आग के चारों ओर बैठकर हम कई लोग बातचीत कर रहे हैं, गोपालदा धीरे-धीरे तम्बाकू पी रहे हैं। बूढ़ी ब्राह्मणी रास्ते से रोग अपने ऊपर चिपटाकर एक जगह कुण्डली-सी बनकर निर्जीव पड़ी है ; पर उन्हीं सुविधाओं के साथ कंकाल देह-वाली चारू की मा ने जिसमें दुर्दम शक्ति है, अपने घर में पलनेवाली गायों की बातें शुरू कर दी है। धीरे-धीरे रात्रि की निद्रा शान्त हो गई।

दूसरे दिन सुबह उठकर, आकाश की ओर देखकर हम सबको बहुत विस्मय हुआ। रँगीली धूप में चारों दिशाएँ हँस रही हैं। आकाश स्वच्छ नील है। आसपास के पर्वतों के शिखरों पर स्तूपाकार बरफ

सूर्य के प्रकाश में चमक रहा है। नदी के उस पार समतल मैदान में खेती-बाड़ी का काम हो रहा है, कहीं-कहीं सामान्य वृक्ष-लताएँ बार-बार हवा से हिलने-डुलने लगती हैं. हम परम तृप्ति से चारों ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते रह गये। इस सुहावनी धूपवाले अलस दिन का आनन्द उपभोग करने का हमें सौभाग्य प्राप्त होगा, यह हमने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। मनुष्य के भाग्य-विपर्यय के बाद जिस तरह सुदिन आता है, आज का यह सुनिर्मल तथा प्रकाश से उद्भासित दिन भी विधाता के आशीर्वाद की तरह हमारे ऊपर उतर आया है। आज सुबह उठकर चलना नहीं हुआ, सारे शरीर ने विश्राम पाया है। कोमल उष्ण धूप में आँखें बन्द कर बैठा रहा।

मन्दिर और देवता के दर्शन की मुझे विशेष लालसा नहीं है, यह सुनकर आश्चर्य से अनेकों की आँखें माथे पर चढ़ गईं और वे नाना प्रकार की रायें मेरे बारे में क़ायम करने लगे और जब उन्होंने यह सुना कि देवमूर्ति के सम्बन्ध में मेरा ज़रा भी मोह तथा कौतूहल नहीं है, पूजा भी नहीं करनेवाला हूँ, मुक्ति भी नहीं चाहता—उस समय तो उनका सारा चेहरा ही बदल गया।

'कुछ मत करो, लेकिन एक बार प्रणाम तो करोगे, बेटा ?'

'किसको ?'

'किसको! बेटा तुम्हारी बात सुनने से तो देह जली जाती है। खैर, यह तो बतलाओ कि बाप-दादाओं के मुख में थोड़ा जल भी दोगे या नहीं ?'

यहाँ ब्रह्मकपाली में पितरों के लिए पिंडदान करने का विधान है। यह कहा जाता है कि स्वर्गीय पितर स्वर्गद्वार से अञ्जलि फैलाकर अपने वंशजों से इस स्थान में पिण्ड ग्रहण करते हैं। गौरीकुण्ड की तरह यहाँ भी एक उष्ण जलधारा है, यात्री बहुत आराम से उसी जल में स्नान करते हैं। पथ के किनारे एक और स्थान में भी थोड़े गरम जल का एक झरना है, इस जल में स्नान करने से शरीर में फुर्ती आ जाती है। अतएव सबकी अपेक्षा यात्रियों का आग्रह इसके प्रति ही अधिक होता है। गंगा में एक भी आदमी को स्नान करते अथवा जल-व्यवहार करते नहीं देखा गया। हिम से आच्छादित गैरिक वेशधारी गंगा को छूने का साहस किसी में नहीं!

स्खलित देह, नंगे पाँव, मैले वस्त्र, वीतराग उदासीन मन—इस में धीरे-धीरे मन्दिर की सीढ़ियाँ पार कर भीतर प्रवेश किया।

जाति-वर्ण के विचार से रहित यात्रियों की भीड़ भीतर कोलाहल कर रही है। आज सभी अपने परम लक्ष्य के पास आ पहुँचे हैं, मुखों पर तृप्ति की हँसी फूट पड़ी है। किसी का शरीर रोगी है, कोई क्षत-विक्षत है, कोई लँगड़ाते चल रहा है, किसी का गला बैठ गया है—खैर, ये सब बातें होती रहें, अपने-अपने ललाटों पर उन्होंने जय का टीका तो लगाया है। मन्दिर के भीतर अन्धकार है, नाना अलंकार और आभरणों से आवृत बद्रीनाथ का स्पष्ट दर्शन करना एक भारी कठिन कार्य है। शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु की मूर्ति और आस-पास में छोटे-छोटे देवी-देवता हैं। मूर्ति छोटी है। सामने अन्धकार में घी का दीया जल रहा है, पास ही में अन्न-भोग कतारों में सजाया हुआ है। श्रीक्षेत्र की तरह यहाँ भी अन्न के बारे में छूत-अछूत का कोई विचार नहीं।

इतने दिनों का पथश्रम आज इस सामान्य में ही समाप्त हो गया। दुःख, पीड़ा, कातरता, उपवास और पथश्रम, इतना कौतूहल, व्यथा-वेदना और आयोजन सब आकर रुक गये एक प्रस्तर मूर्ति के चरणों पर! कितनी मृत्यु-महामारी, कितना क्लेश और उत्पीड़न, कितने रास्तों की कितनी घटनाएँ और संघात—आज क्या उनका कोई मूल्य नहीं?

कौन कहता है मूल्य नहीं! कितने युग-युगान्तर तथा कितने काल-कालान्तर व्यापी लोक-प्रवाह अविश्रान्त रूप से इस विराट् के तीर बहता आया है, प्यास से आर्त कोटि-कोटि हृदय मुक्ति-वासना में विग-लित अश्रुओं से टूट पड़े हैं इसके चरणों के पास—आज मेरी तरह नगण्य मनुष्य के शिथिल सन्देह और अविश्वास से क्या उसका मूल्य कम हो जायगा? इतना बड़ा अहंकार तो मुझमें नहीं!

चारों ओर एक बार देखा, मेरी समस्त नस-नाड़ियों के भीतर एक अजीब आन्दोलन जाग उठा है। क्या इसी का नाम नास्तिक की आत्म-ग्लानि है? क्या इसी को अविश्वासवादियों की अवचेतन प्रतिक्रिया कहा जाय? किन्तु, मेरा स्वाभाविक अहंकार नष्ट हो जाय, मिट जाय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का मेरा निष्फल दम्भ—मैं इन्हीं में से एक जन हूँ, इनकी ही भाँति भक्ति-रस की बाढ़ में मैं भी बहता चला जाना चाहता हूँ। उन सबकी सम्मिलित प्रार्थना के भीतर अपने कंठ को मिलाकर मेरी भी यह कहने की इच्छा हुई, हे देवाधिदेव, मेरा सन्देह और अवि-श्वास दूर करो, जो कुछ झाड़-झंखाड़ है उसे दूर कर दो। हे पारस-मणि, जितना मालिन्य, जितनी कुरूपता, जितनी विरूपता, जितना

कुछ आवरण है—तुम्हारे स्पर्श से ये सब सुन्दर हो उठें ! सुदूर प्राचीन-काल से जो तुम्हारी दर्शन-कामना लिये इस दुर्योगदुर्गम पथ से, दलों के बाद दलों में चले आ रहे हैं, महाकाल के प्रखर प्रवाह की चोट से जो दल के दल अदृश्य हो गये हैं, हे देव, युग-युगान्तर से कोटि-कोटि अगण्य नर-नारियों की मोक्षलाभ की वही अतृप्त वासना इस तृषातुर हृदय में आश्रय किये हुए है—तुम इसको मुक्ति दो ! अविश्वास नहीं, सन्देह नहीं, मोह नहीं—मैं उसी सनातन काल का हिन्दू हूँ, उसी चिरन्तन हिन्दूकुल में मेरा जन्म हुआ है, मेरी धमनियों के खून में पवित्रता की वही पुरानी भावना है—तुम्हारे चरणों के नीचे मैं पद-दलित होना चाहता हूँ, धन्य होना चाहता हूँ, कृतार्थ होना चाहता हूँ !

बोझिल मन से फिर पथ के पार जाकर डेरे के किनारे बैठ गया। नील अकाश में सूर्य चमक रहा है, दोनों ओर फेन के समान शुभ्र हिमाच्छादित पर्वत-शिखरों पर सूर्य-किरणें प्रतिबिम्बित होकर अद्भुत सौन्दर्य बिकीर्ण कर रही हैं, महायोगी की लम्बी जटाओं की तरह बरफ की धाराएँ झरनों के रूप में नीचे उतर आई हैं। दूर समय-समय पर मन्दिर में काँसे का घंटा बज उठता है। उस पार पहाड़ के नीचे एक सरकारी बँगला है, उसी के पास खेती की कोमल हरी भूमि है। तीन-चार महीनों के भीतर ही जो-कुछ फसल तैयार हो सकती है, की जाती है—उसी के बाद शरद् काल से फिर यह राज्य धीरे-धीरे बर्फ के गर्भ में समाधिस्थ हो जाता है, गाँववालों को नीचे चला जाना पड़ता है। बद्रीनाथ का मन्दिर अदृश्य हो जाता है; पुजारी रावल महाशय जाकर जोशीमठ में वास करते हैं, जाड़ों में वे उसी स्थान से बद्रीनाथ को पूजा अर्पण करते हैं।

'दादा ?'—मेरे कान के पास एक करुण कण्ठ काँप उठा।

मुख फिराकर देखा। वह कंठ-स्वर मैं आज भी नहीं भूल पाया।

'आप आ गये हैं ! अच्छे तो हैं ?'

ब्रह्मचारी को सहसा पहचान न पाया। पहचानने की बात भी नहीं थी। रूखा, दुबला-पतला शरीर, जाड़े से सूखा तथा फटा मुख, दोनों पाँव वीभत्स रूप में गलित-क्षत, हाथ-पाँवों में भयानक सूजन। हाँ कहकर निःश्वास लेते-लेते वह पास आकर बैठ गया। बोला—कई दिन ज्वर से पीड़ित रहा। फिर यह पाँव...कितनी यंत्रणा है, जो दिन कट जायँ ! उसकी आँखों में आँसू आ गये।

'पाँवों में यह सब कैसे हुआ ?'

'मक्खियों के काटने का घाव...दादा, आपके प्रति मैंने सौ अपराध किये हैं, आपको छोड़ने से ही मुझे यह दंड मिला है, मुझे क्षमा कीजिए !'

उसके दायें पाँव में बाळ तथा कौड़ी बँधे हुए थे, उस ओर देखकर मैं बोला—क्षमा करने जैसी बात तो कुछ है नहीं। तुम मुझको एक दिन छोड़कर चले आये उस बात को भूल गया हूँ।

मेरी यह बात झूठी नहीं है। जिस ब्रह्मचारी के प्रति उस दिन ममता और स्नेह में अन्धा हो गया था, जिसको छोड़ जाने में छाती फटी जाती थी, आज उसके बारे में मुझे कुछ खयाल ही नहीं, मेरे मन का मन्दिर धुल-पुँछकर साफ हो गया है। ब्रह्मचारी के संबन्ध में आज मेरा हृदय बिलकुल उदासीन है।

'सोचता हूँ, इस पाँव से अब फिर हिमालय कैसे पार किया जाय...ऐसा जान पड़ता है कि अब नहीं बचूँगा !'

मैंने कहा—मरेंगे तो सभी एक दिन ब्रह्मचारी !

ब्रह्मचारी कुछ देर चुप रहा, उसके बाद बोला—आपके ऊपर ही आशा लगाये मैं यहाँ चार दिन से हूँ, रोज दो-एक बार आपको खोजने निकल जाता था कि आप आये हैं या नहीं। यह जानता हूँ कि मेरी सब आवश्यकताओं की आप पूर्ति कर देंगे।

वह फिर बोला—उपवास करते-करते आया हूँ, उपवास करते-करते ही जाऊँगा, किन्तु रामनगर से वृन्दावन तक रेल का किराया न होने से काम कैसे चलेगा...मैं केवल आपके ही भरोसे पर हूँ...

मुख उठाकर देखते ही वह फिर बोला—यदि कुछ भिक्षा दें।

एक दिन खुद अपने आग्रह से ब्रह्मचारी का खर्चा उठाया था, किन्तु वह हृदय आज मुझमें नहीं रहा। उसकी करुण प्रार्थना के प्रति हठात निर्दय होकर बोल उठा—साथ में मैं जमींदारी तो बाँध नहीं लाया हूँ !

देखते-देखते उसका मुख अपमान, भय और निस्सहायावस्था से सफेद हो गया। उसका दुर्बल और रोगी शरीर इस आघात को नहीं सह सका, वह एक पत्थर के सहारे पीठ रखकर बैठ गया।

मैंने कहा—मैं दान करने के लिए नहीं आया हूँ, पुण्य करने के लिए भी नहीं, भिक्षा मेरे पास से न मिल सकेगी।

'थोड़ा बहुत...आठ आना पैसा ही...?'

कठोर कंठ से मैंने उत्तर दिया—नहीं।

ब्रह्मचारी और कुछ नहीं बोला, केवल चुपचाप अपने दो अकर्मण्य पाँव सावधानी से ठीक कर झुककर उसने नमस्कार किया, उसके बाद बहुत कष्ट से उठकर धीरे-धीरे वह चल दिया। ब्रह्मचारी की कहानी का यही परिशिष्ट है।

जीवन का और एक पहलू है। जिससे आघात मिलता है, जो अवहेलना और अनादर करता है, उसपर विजय प्राप्त कर उसको करतलगत करने के लिए मन छूट पड़ता है, और जहाँ मुझे ही कोई पूरा आत्म-समर्पण कर रहा हो, मेरा ही सहारा लेकर जो बचना चाहता है उसके प्रति मेरी निर्दय अवहेलना, निष्ठुर उदासीनता जीवन का दूसरा पहलू है। जीवन की गति सीधी नहीं है। ईश्वर को उदासीन बतलाकर उसको पाने के लिए हमारी इतनी उत्कंठा और इतनी व्याकुलता है। देवता बातों ही बातों में हमारे करतलगत होने से उनका मूल्य कम होता है, हमारी कामना और हमारा कौतूहल भी थमते जाते हैं।

प्रेम दोनों ओर से होता है। एक ओर किसी को अवलम्ब करने से हृदय रंग और रस से सिक्त हो जाता है, प्रेम को केन्द्रित कर मनुष्य का आत्मविकास होता है; दूसरी ओर हम दौड़ पड़ते हैं उसकी ओर जिसको नहीं प्राप्त करते, जिसको प्राप्त किया ही नहीं जा सकता। अनेक मनुष्यों के बीच में हम चिर-ईप्सित मन के अनुरूप मनुष्य को खोजते-खोजते चले आते हैं, अनेक जीवनों के घाट-घाट में उसको अन्धों की तरह टटोलते-टटोलते जाते हैं, निष्फल होकर घूमते-फिरते हैं।

ग्राम की अपेक्षा बद्रीनाथ को क्षुद्र शहर कहा जाय तो कोई हानि नहीं। केवल वही पत्थरों से पटा हुआ करीब दो सौ गज लम्बा रास्ता है, किन्तु उसी के ऊपर दोनों ओर दुकानों की पंक्तियाँ हैं। कपड़े-लत्ते, मिरच-मसाला, चाल-दावल, खिलौने-आभूषण, पूरी-कचौरी—अनेक दुकानें हैं। जब एक जगह पुस्तकों व तस्वीर की दुकान देखी तो बड़ा आश्चर्य हुआ। कैसा भाग्य नाटक—उपन्यास नहीं—धर्मग्रन्थ! इससे भी अधिक ताज्जुब तो तब हुआ जब चाय व पान की दो दुकानें देखीं, प्रसन्न होकर चाय पी।

जाड़े की हवा के कारण शरीर को कम्बल में लपेटकर अनाथ बालकों की तरह इधर-उधर फिर रहा था, उस समय सन्ध्या होने में कुछ देर थी। रास्ते के दक्षिण ओर शिलाजीत तथा चँवरों की कई दुकानें देखते-देखते चला जा रहा था। ये दोनों वस्तुएँ दुष्प्राप्य हैं।

शिलाजीत तो पहाड़ों की चट्टानों पर धूप में पिघलता है। किसी-किसी खास पहाड़ के एक अलक्ष्य शिखर पर कोलतार की तरह यह वस्तु मधु के समान एक जगह में प्रकृति के इच्छानुसार जमा होती है। कभी एक बार इस चीज को जीभ से चखकर मनुष्य ने सोचा कि खाने में तो यह बुरी नहीं है। चखते-चखते उसने पेट में डाल लिया। मालूम हुआ कि शरीर के लिए यह स्वदेशी सैनेटोजन की तरह पुष्टि-कारक तथा बल-वर्द्धक है। इस तरह उसने तमाम पहाड़ों को छान डाला, हिमालय की धूप का शोषण कर इसे ले आया और तोले के हिसाब से इसे बेचने लगा। एक तोला अच्छी शिलाजीत का दाम आठ आना होता है। इसके बाद चँवर। हिमालय के बर्फीले प्रदेश में सुरा गाय पाई जाती है। कोई इसको चँवर गाय भी कहते हैं। कठोर बर्फ में वह घूमती-फिरती है। बर्फ की तरह सफेद देह होती है। उसके बाल भी सुन्दर होते हैं। बस फिर क्या था, उसी गाय की पूँछ के बालों को काटकर लाने लगे। हिन्दू-सन्तान गाय को काटने लगी, उसके बालों के गुच्छों को एक मूँठ से बाँधकर, गृह-पालित पशुपति के ऊपर पंखा झलने लगी।

एक बड़ी दुकान में जाकर चँवर तथा शिलाजीत की परीक्षा कर रहा था। गोपालदा पास ही में थे, इन दोनों वस्तुओं के प्रति उनका भारी मोह है। मोल-तोल करने के लिए उन्होंने मुझ को ही आगे ठेल दिया, मैंने एकाएक अन्धे की तरह अनर्गल उर्दू मिश्रित हिन्दी बोलना शुरू कर दिया। दुकान में काफी भीड़ थी, स्त्री-पुरुषों की भीड़ से दुकानदार हकबका-सा गया। उसकी वस्तुओं को उलटा-पलटा कर अपने मन के अनुरूप एक छोटे चँवर को खोज रहा था।

हाथ बढ़ाकर एक चँवर पकड़ते ही दूसरी ओर से एक और हाथ आकर उसके ऊपर पड़ गया। जो हिन्दुस्तानी लड़की अब तक जोर-जोर से बोलती हुई सब दुकानों को अपनी बातचीत, हँसी, तर्क तथा मोल-तोल से मुखरित कर रही थी, यह हाथ उसी का था। स्त्रियों को मैं अधिक सुविधा देने के लिए राजी नहीं, इसलिए चँवर को हाथ में ले लिया।

'ओइटी किन्तु आमार पछन्द, दिन आमा के।'*

चकित होकर चँवर उसके आगे रख दिया। भीड़ के भीतर गर्दन झुकाकर बोला—आप बंगालिन हैं?

* किन्तु वह मुझे पसन्द है, मुझे दे दीजिए।

वह भद्र महिला हँसकर बोली—क्या देखकर सन्देह होता है ? हिन्दी सुनकर ?—क्यों, नानी कहाँ गई ? हमारे चौधरी महाशय ? ओ भगवान, ऐसा मालूम होता है कि वे यहाँ से दुकान समेत सारा सामान उठा ले जायँगे। यह चँवर आपको कैसा लगता है ?

मैंने उत्तर दिया—चीज़ अच्छी है, छोटा-सा है, दाम भी कम हैं, केवल दस आने हैं।

उन्होंने कहा—यदि मन के अनुकूल हो तो दाम ज़्यादा भी दिये जा सकते हैं। ठीक इसी को मैंने लिया, किन्तु मन को नहीं भाया। मेरे घर में हैं नारायण, उन्हीं के लिए...यह कहकर उन्होंने फिर दुकानदार के साथ शिलाजीत के सम्बन्ध में बातचीत छेड़ दी।

अपनी हिन्दी भाषा को मैंने संयत किया, इनके साथ नहीं चल सकूँगा, शायद कुछ कहना चाहता हूँ और कुछ और ही कह जाऊँ—ज़रूरत नहीं।

'आप यहाँ क्या करने आये हैं ?' उन्होंने सिर से पैर तक एक बार मेरी ओर देखा।

'तीर्थ के लिए आया हूँ—जिसके लिए सभी आये हैं।'

'तीर्थ के लिए !'—होंठ उलटकर वे एक ऐसी अवज्ञापूर्ण हँसी हँसीं कि मैं अत्यन्त कुण्ठित हो गया, ज़रा-सी देर में ही मेरी छब्बीस दिन की यह सारी तीर्थ-यात्रा मानो मिथ्या हो गई। बोलीं—मालूम होता है कि तीर्थ करने के लिए आपकी यही उम्र है ? ओ भगवान, आपकी वेश-भूषा भी आधे-संन्यासियों की-सी है।

उनकी बातचीत तिरस्कार की तरह सुनाई दी। गोपालदा के पास सटकर बैठ गया। उनकी चमकती आँखों के सामने मैं ज़रा देर में ही संकुचित हो जाता हूँ। देखते-देखते नानी और चौधरी महाशय आकर खड़े हो गये। सहज ही में परिचय हो गया। माल-असबाब खरीदने सभी चल पड़े। साथ में सूर्यप्रसाद पण्डा था। स्वर्गद्वार के संबन्ध में बात चीत छिड़ी। स्वर्गद्वार जाने के लिए बरफ के भीतर दो दिन चलना पड़ता है—मनुष्य के लिए यह पथ अगम्य है। स्वर्गद्वार के रास्ते से जाने पर 'शतपंथ' मिलता है—इसी पथ के प्रथम प्रान्त में पाण्डव-पत्नी देवी द्रौपदी भूतलशायिनी हुई थीं—महापुरुष तथा अज्ञात संन्यासियों को छोड़कर साधारण मनुष्य वहाँ जाने में असमर्थ हैं। यहाँ से छः मील रास्ता बरफ के भीतर चलने से वसुधारा का दृश्य दिखाई देता है। वसुधारा हिम का एक प्रपात है। बरफ के उच्च शिखर

से वायु-प्रताड़ित एक जलधारा असंख्य बिन्दुओं में चारों ओर छिटक पड़ती है, अनेक निम्नगामी फुहारों की तरह—उसी का नाम वसुधारा है। रास्ते में खड़े-खड़े बातचीत हो रही थी, इस समय ज्ञानानन्द स्वामी जिनके साथ पहले हरिद्वार में मुलाकात हुई थी, सदलबल आ गये ; हमारी बातचीत में उन्होंने भी हिस्सा लिया। यहाँ से लौटने के वक्त जोशीमठ से होकर कैलाश जाने की इच्छा मेरे मन में थी, अतएव कैलाश की चर्चा छिड़ी। सारी बातचीत में, सारे तर्क और सारी आलोचना में तथा सारी समस्याओं के ऊपर जो अनर्गल रूप से अपने मतामत को प्रकट करती जा रही थी वह थी नानी की नातिन। उसकी रुचि परिमार्जित थी, उसकी बातचीत में उसकी बुद्धि का आभास मिलता था, उसके व्यवहार में कोई संकोच न था और सहज ही में सबको लाँघकर उसका व्यक्ति-स्वातंत्र्य हम सभी के ऊपर प्रतिष्ठित हो गया। चौधरी महाशय ने कहा कि वे औसतन प्रतिदिन दोनों बेलाओं में दस मील से अधिक न चलेंगे, थोड़ा-थोड़ा चलना ही अच्छा है। उनको यहाँ आज तीन दिन हुए हैं, कल सुबह देश की ओर रवाना हो जायँगे।

मैंने कहा—हम तो रोज बारह-चौदह मील तक चलते हैं।

नातिन बोली—तब तो हमें रास्ते में जरूर पकड़ लोगे—चलो नानी, तुम्हारे लिए कुछ लेकर डेरे में लौट चलें, चौधरी महाशय जाड़े में कष्ट पा रहे हैं। हमारे चौधरी महाशय कैसे मनुष्य हैं जानते हैं—शान्त, शिष्ट, सीधे-सादे, क्रोधहीन। पूजा-अर्चना कर चलते हैं, इनके शिष्य-सेवक हैं—और क्या कहूँ चौधरी महाशय ?

चौधरी महाशय स्नेह की हँसी हँसकर बोले—अब अपनी नानी की बात भी कह दो ? मेरी गैरहाजिरी में…

सभी हँस पड़े ! मैंने कहा—चाहे जो कुछ कहिए, एक बात देखकर तो ईर्ष्या होती है, वह है आपके साफ-सुथरे चमकते कपड़े-लत्ते।

नातिन एकाएक सबकी ओर देखकर बोली—हम बैरागी होकर तो यहाँ आये नहीं हैं, साज-सरंजाम लेकर आये हैं।

यह बात क्या थी, चाबुक की एक चोट थी। ठीक ही तो है, पाँवों में उनके मोजे हैं, सफेद जूते हैं, शरीर पर पशम की एक बैंगनी चादर ओढ़े हुए हैं, ऐश्वर्य में ही वह पली हैं। उनकी बातचीत से बहुत आसानी से यह बात मालूम हो जाती थी कि वह एक संभ्रान्त परिवार की हैं।

गोपालदा को लेकर चलने ही को था कि नातिन ने पास से एक

और अलक्ष्य उक्ति की—आप सभी तीर्थ-यात्रा के लिए आये हैं, मैं आई हूँ घूमने के लिए।

जल्दी-जल्दी पाँव उठाकर बोला—घूमने के लिए तो यह देश है ही। आइये गोपालदा, और एक प्याला चाय पी जाय।

चाय पीने के बाद गरम पूरी लेकर जाड़े की हवा में काँपते-काँपते डेरे में चले आये। पर्वतों पर संध्या का अन्धकार उतर रहा है। सूर्य की गरमी सूर्य के साथ ही चली गई है, फिर बर्फीली ठंडी हवा चलने लगी है। भीतर आग जल रही है; उसी के चारों ओर वृद्धाओं की मंडली नितान्त गँवारू बातचीत में निमग्न है। थोड़ी देर पहले रास्ते के ऊपर खड़े-खड़े सभ्य व संस्कृत लोगों की जिस उच्च भावना व स्वर का संचय किया था उसके साथ तुलना करने से हृदय एकाएक घृणा से भर उठा। यह जानता हूँ कि यह मेरा पक्षपात न्यायानुकूल नहीं है, किन्तु यह क्या बिलकुल अस्वाभाविक है? मन में आया कि इस कुत्सित कुरुचिपूर्ण ग्राम्य-संसर्ग को छोड़कर कहीं भाग जाऊँ। इनका बोझा और वहन नहीं कर सकता।

पार्टीबन्दी की भावना तो नहीं, लेकिन दलों की विभिन्नता की ओर मन आकर्षित होता है। वैचित्र्य अथवा विभिन्नता की क्षुधा मनुष्य में स्वाभाविक है। वैचित्र्य में ही उसको आन्तरिक आनन्द मिलता है। प्रति क्षण वह नूतनतर जीवन, अभिनव चरित्र तथा विस्मयकर घटनाओं के घात-प्रतिघात की कामना करता है। शिल्पी का मन भी इसी प्रकार होता है। कहीं भी वह बन्धनों को नहीं मानता। स्नेह के लिए नहीं, प्रेम के लिए नहीं, अवस्था के लिए भी नहीं। सब किसी को वह स्पर्श करता है और सब कुछ अतिक्रम कर वह चला जाता है। सामाजिक विधि-निषेध, नीति और धर्म की बाधा-विपत्ति, मनुष्यत्व का नाप-दण्ड—ये सब उसके लिए नहीं हैं। शिल्पी वास करता है एक विचित्र जगत में, मानव-समाज में वह एक अमर देवदूत है।

देखते-देखते बुढ़ियों की बातचीत बन्द हो गई, एक-एक करके सो गईं। घर के कोने में हरीकेन लालटेन मन्दा किया हुआ है, एक ओर लकड़ियाँ जल रही हैं, भीतर काफ़ी गरम हो गया है। पास में गोपालदा कम्बल के नीचे न जाने कहाँ छिप गये हैं, उनकी साँस चलने का भी शब्द नहीं सुनाई देता। उनका खयाल है कि इस बन्द घर के भीतर भी कम्बल से मुँह बाहर निकालते ही वह डबल निमोनिया के शिकार हो जायँगे। हमारी आँखों में तन्द्रा आ गई थी।

बाहर शोर-गुल सुनाई दिया और साथ ही यह भी समझ गया कि कोलाहल बंगालियों की एक मंडली का है।

'कौन हो भाई, थोड़ा प्रकाश तो दिखाओ बाबा, रास्ता मालूम नहीं है बेटा, जरा दया कर रोशनी तो दिखाओ, भारी अन्धकार है।'

'किसी दिशा में कुछ भी नहीं सूझता, वे सीढ़ियाँ कहाँ गईं ?

'बुआ फिर यह रतौंधी, इस तरफ़, ओ इस तरफ, उजबक की तरह मत चलो बुआ, अभी मरोगी, खैर जो भी हो, खूब रुक-रुककर। हम सभी ठीक तो हैं, हाराधन के दस लड़के ? कोई खो तो नहीं गया ?'

'कानी तो थी, इस बार प्रकाश के बिना लँगड़ी भी हो गई। अरे भलेमानसो, बोलो तो, कोई कहीं है बाबा, रोशनी लेकर जरा बाहर तो आओ, हम तो अब बाघ के पेट में नहीं जा सकते।'

कम्बल छोड़कर उठा और रोशनी तेज कर लालटेन को हाथ में लिये बाहर आया।—'अहा, आओ बाबा, आओ, छोटी उम्र लेकिन गुण कितने हैं !'

एक व्यक्ति ने कहा—मालूम हो गया कि तुम्हारे शरीर पर मनुष्य का चमड़ा है, इतनी जोर से बुला रहे हैं, इस शीत में...

'इस ओर को करना जरा यह लालटेन, हाँ, ठीक है, थैंक यू !'

'ओहो, बाबा तुम्हीं उठकर आये हो, अहा जीते रहो।'

'जान पड़ता है, अब नानी ने उनको पहिचान पाया है !—खूब सावधानी से चौधरी महाशय, सीढ़ियों में ठोकर मत खाना, उधर शायद विजया दीदी वगैरह सोच रही हैं कि हम खो गये हैं, सच है, बापू, किताब खरीदने जाने से हमें बहुत देर हो गई, धर्म-धर्म में ही तुम सब अस्थिर हो जाते हो।'

एक ने कहा—हाँ बाबा, क्या तुम्हारा कैलाश जाना निश्चित है ?

नानी सीढ़ियों पर चढ़ रही थीं, लालटेन उठाकर बोला—अभी ठीक नहीं कह सकता। वह सिर्फ एक खयाल है।

सबके अन्त में नातिन लाठी लेकर उठीं। मुख फिराकर थोड़ा गला झुकाकर बोलीं—खयाल नहीं, बदखयाल ! क्या होगा कैलाश जाकर, देश के लड़के अपने देश को चले जायँ।

बहुत दूर जाकर वह फिर बोलीं—अब अपना डेरा पहिचानने में आ गया है, आप जा सकते हैं—ओफ़ कितनी सर्दी है, बाबा रे बाबा !

भीतर आकर दरवाजा बन्द कर फिर कम्बल के अन्दर जा पैठा।

गोपालदा चुपचाप बोले—मालूम होता है, वही वाचाल लड़कीवाला दल है ? उस लड़की को चैन नहीं, बैठे-बैठे पाँव नचाती है...खून की तेजी ऐसी ही होती है ।

कुछ देर चुप रहकर बोला—कल चला जाता हूँ गोपालदा !

गोपालदा हाथ पकड़कर बोले—इस अस्वस्थ शरीर को लेकर ? तीन रातें यहीं बितानी पड़ती हैं भाई !

मन में मानो एक रुद्ध रोष और अभिमान जाग उठा । मैंने कहा—इस समय कैलाश की ओर ही जाऊँगा, आप स्वदेश लौटकर घर से समाचार भेज दीजिए, पता दे जाऊँगा ।

'ठहरो, एक चिलम तम्बाकू भरता हूँ ।' कहकर गोपालदा उठ बैठे।

रात में जो तूफान उठा था, दूसरे दिन सूर्य के प्रकाश में देखा तो सब शान्त हो गया है । आकाश में और कोई मलिनता नहीं है, चारों दिशाएँ स्वच्छ नील-आभा में चमक रही हैं । यात्रियों को आज अपने-अपने घरों का ध्यान आने लगा है, परिवार तथा आत्मीयजनों की कुशल का ख़याल आने लगा है । घोर नींद से आज सभी जाग उठे हैं । अब संचय करने की बारी है । कोई ले रहा है तीर्थ का सुफल, कोई ठाकुर का प्रसाद और कोई तस्वीर तथा पुस्तक । कइयों ने रास्ते से कच्चे सिद्धि के पौदों को तोड़कर उन्हें धूप में सुखाने रख दिया है । जिनको अधिक धैर्य नहीं है, वे चिट्ठी लिखने बैठ गये हैं । यहाँ के डाकघर की मुहर लगवाकर वे चिट्ठियाँ अपने-अपने घरों को भेजेंगे । आज कोई जल्दी नहीं, सभी विश्राम ले रहे हैं, इधर-उधर की बातचीत हो रही है, कोई दवा-दारू संग्रह कर रहा है, कोई काँडी खोज रहा है—पैदल लौट चलने की उसमें सामर्थ्य नहीं है । बीच-बीच में सूर्यप्रसाद और रामप्रसाद अपने मधुर आलाप-व्यवहार से यात्रियों को खुश कर जाते हैं । इस प्रकार के सहृदय तथा भद्र पण्डे भारतवर्ष के किसी भी तीर्थ में बहुत कम मिलते हैं ।

यात्रा संपूर्ण ।

पुनरागमन

पथेर साथी, नमि बारम्बार।
पथिक जनेर लह नमस्कार।
ओगो विदाय, ओगो क्षति ओगो दिन शेषेर पति,
भांगा बासार (गृहहीन) लह नमस्कार
ओगो नव-प्रभात ज्योति
ओगो चिर दिनेर गति,
नूतन आशार लह नमस्कार!
जीवन रथेर हे सारथी, आमि नित्य पथेर पथी
पथेर चलार लह नमस्कार!

तीन दिन ठहरकर पन्द्रहवीं जेठ की सुबह हम आखिरी विदा और अभिवादन प्रकट कर तथा अखंड पुण्य-संचय कर परितृप्त मन से रवाना हो गये। जादू की तरह नष्ट स्वास्थ्य और लुप्त शक्ति फिर लौट आई। नवीन उत्साह, नई प्रेरणा, सतेज प्राणधारा—इस तरह से स्वस्थ और फुर्तीला पहले कभी अपने को महसूस नहीं किया था। सारे अस्वास्थ्य और क्लेद-कालिमा को बद्रीनाथ रख आया। शरीर में बल, हृदय में उल्लास, पाँवों में दौड़ने की तेजी, खून में गरमी और एक अपरिमेय प्राणशक्ति लेकर सबके साथ चल रहा हूँ। हमारा नया जन्म हुआ है। सुबह अपना सामान कन्धे पर रखकर, लाठी को हिलाता-हिलाता प्रायः भागते-भागते चला। दो घण्टे में हनुमान चट्टी आ पहुँचे और दोपहर को पांडुकेश्वर पहुँच गये। साँझ के बाद जाकर पहुँचे विष्णुप्रयाग और जोशीमठ पार कर तुरन्त सिंहद्वार ही मिला। रात को सोते समय हिसाब लगाकर मालूम हुआ कि आज हम लोग उन्नीस मील चले हैं। इस समय हमारे पाँवों में असीम शक्ति है।

रास्ता हमारा पहिचाना हुआ है, कहाँ क्या है, वह हमें ज्ञात है। हमें लालसांगा वापस जाना होगा, वहाँ से नवीन रास्ते से कर्णप्रयाग की ओर जायँगे। सभी को इस समय जल्दी है। तीर्थ पूरा हो गया है, पहाड़ी देश असहनीय हो उठा है, अन्दाज है कि करीब दस-ग्यारह दिन चलकर ट्रेन में बैठ जायँगे—मैदान देखने के लिए सभी बहुत उत्सुक हैं। अब हम प्रत्येक दिन यह समझ सकते हैं कि कहाँ दोपहर का भोजन करेंगे और रात्रि में कहाँ ठहरेंगे। दूसरे दिन हमने गरुड़-

गंगा में रात काटी। सिंहद्वार से गरुड़गंगा सोलह मील है। दूसरे दिन दोपहर को बावला चट्टी पहुँचे। भोजनोपरान्त फिर रवाना होकर शाम को लालसांगा पहुँच गये। तीन दिन चलकर इस बार हम थक गये। चलते-चलते फिर कान सुन्न पड़ गये हैं। मन उदासीन हो उठा है, याददाश्त कम हो गई है। कुछ भी हो, खोज-खबर कर निर्मला ने अपना वही हरीकेन लालटेन वापस ले लिया। साँझ होने में उस समय कुछ देर थी, लालसांगा में खड़े न रहकर हमने फिर चलना प्रारम्भ किया। इस बार नवीन रास्ता पाया है। हरिद्वार से यह रास्ता कर्ण-प्रयाग होकर आया है। नवीन पथ में दो मील चलकर उस दिन हम कुबेर चट्टी में पहुँचे और रात्रि में वहाँ विश्राम किया। तीन दिन में हम पचास मील चले।

सुबह फिर यात्रा। रास्ते में कहीं-कहीं आराम करते जाते हैं, गोपालदा तम्बाकू का कश लगा लेते हैं, अफीम निगली जाती है, फिर चलना शुरू करते हैं। दो-एक जनों को छोड़कर सभी बूढ़ियाँ काँडी में चल रही हैं, पंक्तिबद्ध होकर कांडीवाले चल रहे हैं। सुबह हम श्रीनन्दप्रयाग पार होकर चले। यहाँ नन्दा और अलकनन्दा का संगम दिखाई दिया। यह आख्यायिका प्रचलित है कि पूर्वकाल में राजा नन्द ने यहाँ यज्ञ किया था। यह छोटा शहर है। यहाँ से गरुड़ जाने का नया रास्ता शुरू हुआ है। नन्दप्रयाग में महेशानन्द शर्मा की दुकान से हिमालय के कई फोटो संग्रह किये। शुद्ध शिलाजीत के लिए यही दुकान प्रसिद्ध है। सर्दी कम हो गई है, धूप तेज हो गई है। एक पहाड़ के बाद दूसरे पहाड़ पर उतर रहे हैं। अभी बहुत रास्ता बाकी है, दोपहर में सोनला चट्टी पहुँच गये और साँझ को जयकंडी चले गये। बीच में लंगासू चट्टी रह गई।

दूसरे दिन करीब नौ बजे के समय कर्णप्रयाग के किनारे पहुँच गये। सामने पत्थरों के टुकड़ों से भरी हुई बड़ी विस्तृत नदी है, पिंडर गंगा और अलकनन्दा का संगम है। यह बात प्रचलित है कि नदी के किनारे पर्वत के समीप एक बार कुन्ती-पुत्र कर्ण ने अपने पिता सूर्यदेव का दर्शन पाकर अभेद्य कवच आदि को वर रूप में प्राप्त किया था। नदी उस पार दक्षिण का पथ गया है रुद्रप्रयाग की ओर, बाईं ओर का रास्ता सीधा गया है मेहलचौरी को। आज हम इसी स्थान से अलकनन्दा से विदा लेंगे। यात्री यहाँ नदी के संगम पर पितरों का श्राद्ध करते हैं।

नदी का पुल पार करने पर सामने एक बड़ी चढ़ाई मिली। लौटते समय चढ़ाई का रास्ता बहुत ही अखरता है। कोई उपाय नहीं, हाँफते-हाँफते शहर में चले आये। शहर काफी बड़ा है। बड़े-बड़े पहाड़ी रास्ते हैं, सरकारी बँगले हैं, अस्पताल है, दुकान-बाजार हैं—एकान्त में एक मान्य-गण्य डाकघर है, पुलिस का थाना है। जल-वायु चमत्कारपूर्ण है। अनेक ढूँढ़-खोज के बाद एक धर्मशाला की दूसरी मंजिल में चले आये। शुद्ध गरम दूध और सुस्वादु जलेबी कर्णप्रयाग की दो उपादेय वस्तु हैं।

ठीक तरह से खाया-पिया। यहाँ बिछुड़ने का वक्त आया। हमारे सुख-दुःख का साथी, दुर्योग और दुर्दिन का अन्तरङ्ग बन्धु पथ-निर्देशक अमरसिंह यहाँ हमसे विदा लेगा। आज यह जान पड़ा कि वह हमारा आत्मीय नहीं, वह पराया है, उसको चला जाना होगा।

देवप्रयाग की ओर किसी एक दुर्गम पर्वत के शिखर पर उसका एक छोटा गाँव है। घर में उसके पिता-माता, भाई-बहिन तथा नव-विवाहिता पत्नी है—यात्रियों को मेहलचौरी के रास्ते पर छोड़कर उसे चला ही जाना होगा। मनुष्य के परिचय-व्यवहार से घनिष्ट आत्मीयता हो जाती है। दुःख के दिन तथा दुर्योग की रातें उसके साथ हमने काटी हैं, वह बन्धु है, वह परम आत्मीयजन है, उससे बिछुड़ने में हृदय में बहुत दुःख होता है, मन के भीतर से मानो किसी ने जोर से जड़-मूल से उखाड़कर दूर फेंक दिया हो। अमरसिंह ने यात्रियों के हृदय पर विजय प्राप्त की है—वह विजयी है, भाग्यवान है।

जिससे जो कुछ बन पड़ा—कपड़ा, चादर, कोट, तौलिया, कम्बल और रुपये—उदार हाथों से सब कुछ उसकी झोली में भर दिया। बद्रीनाथ ने जिस चीज को नहीं पाया, उसको पाया अमरसिंह ने। देवता पाते हैं पूजा, मनुष्य पाता है प्रेम। अमरसिंह हमारा बड़ा आत्मीय-जन है, बहुत ही अधिक आत्मीय।

इस बार मेरे ऊपर यह भार आया कि मैं यात्रियों की देख-भाल कर उन्हें ले जाऊँ। साथ में चल रहा है ज्ञानानन्द का दल। अमरसिंह से पथ के सम्बन्ध में नाना उपदेश ग्रहण कर तीन बजे हमने फिर यात्रा शुरू की। यह बात तय हुई कि मैं सबके पीछे-पीछे चलूँगा। उस समय रास्ते में धूप काफ़ी तेज थी।

इस बार गाड़ नदी के किनारे-किनारे रास्ता थोड़ा समतल है, नदी तक उतरकर इस बार सहज ही में प्यास बुझाई जा सकती है।

आहिस्ता-आहिस्ता चल रहा हूँ, सबके पीछे-पीछे। नदी के उस पार कहीं-कहीं गाँव के चिह्न दिखाई देते हैं। नदी के जल में इस समय सूर्य चमक रहा है। समतल रास्ता होने से चलने की सुविधा हो गई है। गोपालदा को आज आगे चलना होगा, आगे जाकर यदि चट्टी पर दखल नहीं किया जाय तो रात में बड़ी दिक्कत होती है। अमरसिंह नहीं है, इसलिए अबसे हमें ही सब देखना-भालना होगा।

चलने से पहले गोपालदा तम्बाकू पीने के लिए बैठे; पास से ज्ञानानन्द के दल की लड़कियाँ धीरे-धीरे चली जा रही थीं। सभी दलों में औरतों की संख्या अधिक है।

'सारा रास्ता तय कर चुके, लेकिन ऐसी ओछी चटक-मटक, ऐसे नाज-नखरे कहीं नहीं देखे।'

'बड़े आदमी की लड़की है, उसका ढंग ही निराला है।'

'यदि नहीं चल सकती थी तो कांडी क्या डाँडी कर लेती? गृहस्थ की लड़की होकर 'हट-हट' करती घोड़े पर सवारी कर रही है, कोई लोकलज्जा ही नहीं? जब सेंदुर ही मिटकर हाथों में आ गया तब प्राणों का इतना मोह क्यों?'

'पाँचू की मा ठीक कह रही हो, ऐसी जवान लड़की का इस तरह घूमना!'

बूढ़ियाँ तरह-तरह की बातें करती हुई चली जा रही थीं।

मैंने कहा—ये किसके ऊपर इस तरह टूट पड़ी हैं?

गोपालदा ने कहा—तुमसे कहना भूल गया भाई, मेरा खयाल है कि उसी लड़की के बारे में यह सब बातचीत हो रही है, वही जो वहाँ बाबा के...?

उनकी ओर कुछ देर तक मैं देखता रहा, उसके बाद बोला—किसके बारे में कह रहे हैं?

'समझे नहीं क्या, वही जो चश्मा पहिने हुए नानी और उनकी विधवा नातिन...'

'वे तो चले गये हैं!'

'नहीं, आज कर्णप्रयाग में मुझे वे मिले। लड़की एक घोड़े पर चल रही है, उसके शरीर में दर्द जो है। उनका दल आ रहा है पीछे। अच्छा, मैं यहाँ से आगे चलता हूँ।' यह कहकर गोपालदा अपनी मोटी लाठी लेकर ठिंगने और मोटे भालू की तरह आगे चले गये। तम्बाकू पीकर वे रास्ते में तैर सकते हैं।

कई क़दम पीछे चलकर, रास्ते के एक मोड़ पर मुख फिराकर देखते ही चौधरी महाशय का दल दिखलाई दिया। एक भीड़ है। नातिन पहाड़ के एक कटाव में पाँव रखकर घोड़े पर चढ़ने की कोशिश कर रही है। हँसी का कहकहा उठ रहा है। दूर से दिखाई दे जाने पर हँसकर बोलीं—आप मुँह फिराकर आगे चले जाइए। नहीं तो मैं घोड़े पर न चढ़ सकूँगी।

तथास्तु! फिर चलना शुरू किया। खूब तेजी से पाँव बढ़ा दिये। करीब एक मील अकेला चला हूँगा कि खटाखट शब्द सुनाई दिया, पीछे देखा तो अश्वारोहिणी पास ही आ गई है। साथ में एक साईस है। रास्ता छोड़कर अलग खड़ा हो गया। घोड़े की चाल मन्दी हुई। रस्सी की लगाम दोनों हाथों से पकड़कर वह बोलीं—नमस्कार!

'नमस्कार।'

'अच्छे तो हैं? यह सोच रही थी कि अब तो आपसे मुलाकात होगी नहीं—रास्ता तो करीब समाप्त होने को है। खैर, तब भी आपके साथ वह जो वृद्ध-जन थे, उनको देखकर मुझे थोड़ा धैर्य हुआ। जान पड़ा कि, जाड़े के बाद ही वसन्त आता है। कुछ भी हो, बहुत जल्दी आये हैं।'

'आप लोग सब अच्छे हैं?'

'संकुचित होकर बातचीत करने की जरूरत नहीं। नानी बहुत पीछे हैं, घोड़े के पाँवों के साथ मनुष्य के पाँव नहीं चल सकते। हाँ, सब कुशल-पूर्वक नहीं हैं। मेरे पाँवों के तले में दर्द है, नानी ने कुछ सुना ही नहीं, एक घोड़ा लिवा दिया। आप इस बार अपने घर को लौटेंगे?'

'यही सोच रहा हूँ।'

उन्होंने हँसकर कहा—अब भी सोच रहे हैं? आपकी भावुकता को धन्य है; मालूम होता है कि आपके मुख और आपके मन में साम्य नहीं है। इतना क्या सोच रहे हैं? हाथ-पाँव छोड़कर बहते जाइए।

मानो प्राणों का तूफ़ान बह रहा हो, जीवन का प्राचुर्य है। निर्वाक् होकर चल रहा हूँ।

'आप सब लोग घर से निकले हैं पुण्य-संचय के लिए, मैं उसके लिए नहीं आई हूँ। अनेक तीर्थों में गई हूँ, किन्तु तीर्थ करने के लिए नहीं, योंही।' हँसकर फिर बोलीं—मुझे घूमना-फिरना बहुत अच्छा लगता है। यहाँ मेरा आना कुछ निश्चित नहीं था, चलने के तीन-चार दिन पहले कलकत्ता से काशी में नानी के पास आई थी; नानी तीर्थ-

यात्रा करनेवाली थीं। मैंने कहा, मैं भी जाऊँगी। जाने देने के लिए कोई राजी ही नहीं हुआ। मैंने कहा, मैं तो जाऊँगी ही! ये बंधन किस लिए? देश-विदेश के नाम पर मेरा मन पागल हो उठता है, मैं आपसे सच कह रही हूँ।

मैंने कहा—इस तरह की हिन्दी और उर्दू आप कैसे सीख गईं?

उन्होंने कहा—यह ठीक है कि मैं बंगाली की लड़की हूँ, किन्तु बंगाल में रहती नहीं। बंगाल के साथ केवल पत्र-पुस्तक का सम्बन्ध है। अनेक दिनों तक पंजाब में रही हूँ। आजकल सारे वर्ष यू० पी० के शहरों में मैं उन्हें केवल छूती हुई-सी घूमती रहती हूँ। कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

लाल धूप पहाड़ों के माथे पर चली गई है, दिन बीतने को है। किसी-किसी पहाड़ के गर्भमें अभी से अन्धकार हो चला है। नदी के एक ओर सफ़ेद सरसब्ज फूलों का जंगल है और एक ओर काँटों का जंगल। नदी की ओर देखते हुए बीच-बीच में बातचीत हो रही है।

'लेकिन यह मुझे बुरा लग रहा है, मैं तो घोड़े पर जाऊँ और आप पैदल चलें—छुः छुः, क्यों रे, जल नहीं पीयेगा?—मेरे शरीर का भार कम तो है नहीं, क्षण-क्षण में बेचारे का गला सूख जाता है...'घोड़े की गर्दन को उन्होंने एक बार हाथ से थपथपाया।

रास्ते के ऊपर एक झरना उतर आया है, घोड़े ने गला झुकाकर उसके ऊपर मुँह डाला। घोड़ा नितान्त निरीह एवं निस्तेज है, रोगी और दुबला-पतला है। ये घोड़े साधारणतः पहाड़ों में बोझ लेकर इधर-उधर आते-जाते हैं। माल भी ढोते हैं और मनुष्यों को भी ले जाते हैं।

सेमली चट्टी के बाद सिरोली चट्टी के पास आ गये हैं। बातचीत करते हुए करीब पाँच मील रास्ता पार हो चुका है। उन्होंने एक बार पीछे मुड़कर अपनी मंडली के रास्ते की ओर देखा।

'मेरे घोड़े का नाम क्या है, जानते हैं?—बिन्दू। इसके लड़के को लेकर इसी कारण से तो शरत् चटर्जी ने गल्प नहीं लिखी! और देखिए, एक दूसरी समस्या है! मेरे साईस का नाम सभ्य-समाज में अचल है। नाम क्या है, जानते हैं?—प्रेमवल्लभ। काटकर दो कर दो, फिर भी नहीं सुनेगा, बहरा है।'

हम दोनों की हँसी से पथ गूँज उठा। मोड़ को पार करते ही चट्टी मिली। सिरोली चट्टी फलों के बाग में वृक्षों की घनी छाया में है। घोड़े

से उतरकर वह रास्ते के उस पार की चट्टी में चली गई और मैं आया इस पार गोपालदा के आश्रम में ।

रात में नानी के साथ परिचय हुआ । औरतें सुविधा पाते ही सहज ही में पारिवारिक चर्चा छेड़ देती हैं । उनका घर काशी में है । परिवार-परिजन के सम्बन्ध में नाना प्रकार की बातचीत होने लगी । उन्होंने नातिन का जो पितृ-परिचय दिया उससे मैं सहज ही में उन्हें पहचान गया । नातिन का नाम रानी है ।

'मा-बाप नहीं हैं, स्वामी की अकाल-मृत्यु हो गई, लड़का सरकारी नौकरी करता था । इस समय प्रायः यात्रा के घर में ही रहती है । छोटी उम्र में यह हालत हो गई' 'कैसा भाग्य! जो कुछ माहवारी पाती है…।'

परिचयादि के बाद उठकर चला आया । चौधरी महाशय आदि के रात्रि-आहार के लिए भी व्यवस्था करने का भार मेरे ऊपर आया । थोड़ी देर बाद जब करीब तीन पाव पूरी लेकर उनकी चट्टी के पास जाकर खड़ा हुआ तो देखा कि नातिन और नानी जप में बैठी हुई हैं । खड़ा ही रहा । बहुत देर बाद उनका जप पूरा हुआ । मैंने कहा—दाम इसी समय चुका दीजिए, तीन पाव पूरियों के साढ़े सात आने होते हैं ।

रानी ने एक रुपया निकाला, खिरीच तो मेरे साथ था ही, बाकी पैसे लौटा दिये । पैसों को उलटते-पलटते उन्होंने हँसकर कहा—यह छोटी दुअन्नी, यह क्या चलेगी ?

मैंने कहा—चलाने से तो अचल भी चलता है ।—यह कहकर वापस चला आया ।

वसन्त के शेष काल में नदी का रूप गेरुवा वस्त्र-धारी तथा तपःक्षीर्ण वैरागिनी का-सा दिखाई देता है, उसके बालूमय किनारे-किनारे पिंगल जटाधारी रुद्र संन्यासी आते-जाते हैं ; उसके बाद एक दिन उसी नदी के सर्वाङ्ग में वर्षा उतर आती है, ज्वार का वेग उठ पड़ता है, उसके दोनों किनारे प्राणों के ऐश्वर्य से आन्दोलित हो उठते हैं । जीवन भी ऐसा ही है ।

सुबह की धूप में चारों दिशाएँ आन्दोलित हो रही हैं । आज का रास्ता फिर पर्वतों के गह्वर में चला गया है । धीरे-धीरे भटोली चट्टी पार हुई है । यह तय हुआ था कि रास्ते में हम मिलेंगे । मैं दो मील आगे चलूँगा, उसके बाद वह अपनी मंडली को छोड़कर, पीछे से घोड़े को हाँककर मुझसे मिल जायँगी । अर्थात्, इस बात का अनुमान हम दोनों ने लगा लिया है, यही ठीक है, कि हमारी बातचीत और कोई न सुने ।

सभी बातें तो सबके लिए नहीं होती हैं। भटोली चट्टी पार कर बहुत दूर आ पड़ा। गोपालदा थोड़ा बैठकर तम्बाकू पीकर चले गये हैं। मेहलचौरी तक रास्ता खत्म करने की सभी को जल्दी रहती है। पहले पथ पार करना एक कठिन साधना थी, इस बार वह साधना भी नहीं है, दृढ़ इच्छा-शक्ति भी नहीं है, आजकल पथ के प्रति सभी को घृणा है। किन्तु उनमें एक मनुष्य है जो पथ को अब पीड़ादायक नहीं समझता, उसके पाँवों में चलने का अथक नशा आ गया है तथा अनन्त उत्साह। उसने एक सहज और सबल गति पा ली है। वह कह रहा है—

पथेर आनन्दवेगे अबाधे पाथेय कर क्षय।

घोड़े के खुरों की आवाज़ को सुनकर पीछे फिरकर देखा तो दूर से अश्वारोहिणी आ रही है। पीछे नदी और पर्वतों की पट-भूमिका में वह ऐतिहासिक युग की दुर्गावती अथवा लक्ष्मीबाई की तरह दिखाई दे रही है। घोड़े की पीठ पर बैठने की उसकी भाव-भंगी भी तेजस्विनी है। एक स्वच्छ सफ़ेद चादर ओढ़े हुए है, छोटा-सा घूँघट निकाले है, शरीर पर वही गाढ़ी बैंगनी रंग की चादर है। पास ही प्रेमवल्लभ बीड़ी पीता-पीता आ रहा है।

पास में आकर बोली—भाग्य बड़ा कि आप कैलाश नहीं गये।

मैंने कहा—कितना अच्छा भाग्य, आप बद्रीनाथ आईं।

बोलीं—कल रात खाया था?

हा विधाता, यह क्या घोड़े पर सवार लड़की के योग्य प्रश्न है! मैंने हँसकर कहा—यह तो बिलकुल अंतरंग की बात है।

वह हँसती हुई चुपचाप बोलीं—नानी वगैरह आ रहे हैं, आप तेज क़दम बढ़ाकर और थोड़ा आगे चले जाइए।

मैंने कहा—नहीं, नानी के सामने ही मैं आपसे बातें करूँगा।

'आप क्या स्वराज्य पा गये हैं, कहती हूँ आगे चले जाइए।'—सस्नेह उन्होंने धमकी दी।

अतएव आगे ही चला। जाते-जाते आदिबद्री पहुँच गया। सामने ही आँगन के ऊपर नारायण का एक पुराना मन्दिर है, मन्दिर में अनेक दरारें आ गई हैं—उसी के पीछे नजदीक में एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण गाँव है। पास ही साफ़ पानी का एक झरना है। लोगों की धारणा है कि यह जल स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी है। ठंढे-ठंढे में आज काफ़ी रास्ता तय हो चुका है। इस बार और भी चला जा सकता है। यदि बिलकुल थक न गये तो किसी चट्टी में इस बेला नहीं

टिकेंगे। देखता हूँ कि आदिबद्री के देव-दर्शन के लिए सब लोग आकर एक स्थान पर इकट्ठा हुए हैं। मालूम हुआ कि सामने की दुकान से कुछ जल-पान कर फिर सब चलना शुरू करेंगे। अतएव फिर आगे चला।

आगे तो ज़रूर चला, किन्तु आज प्रातःकाल से ही इस नदी, आकाश, पर्वत और दूर के गाँवों से इंगित पाकर भीतर से महाकवि की कविता की कई पंक्तियाँ स्वतः उठने लगीं—

दाओ आमादेर अभय मंत्र, अशोक मंत्र तव,
दाओ आमादेर अमृत मंत्र, दाओगो जीवन नव,
जे जीवन छिल तव तपोवने
जे जीवन छिल तव राजासने,
मुक्त दीप्त से महाजीवने चित्त भरिया लव
मृत्यु-तरण शंका-हरण दाओ से मंत्र तव।

पिछले तीस दिनों के साथ आजकल के दिन मेल नहीं खाते, फिर नवीन प्रकाश और नये अध्यवसाय में आ पहुँचे हैं। जीवन की गति ऐसी ही है। फिर उसने एक नया जोश प्राप्त किया है। आज समझ रहा हूँ कि चित्त-धर्म की कोई निर्दिष्ट नीति नहीं है, चित्तलोक की कामनाओं की कोई नियत पद्धति नहीं है, अपने आनन्द का पथ चित्त स्वयं चुन लेता है; संस्कारों की बाधा से वह अपने स्रोत को रुद्ध कर देने के लिए राजी नहीं। आज वह अपने मुक्त पंखों को फैलाकर अनन्त आकाश में उड़ रहा है।

'क्या सोच रहे हैं ?'

मुख फेरकर बोला—यही तो, आइए। सोच रहा हूँ कि आपकी चादर का रंग बैंगनी न होकर हरा होता तो कैसा होता !

'क्या कहा ?'

'कह रहा हूँ कि आपका घोड़ा चलता है, किन्तु दौड़ता नहीं।'

'नहीं दौड़ने से ही कुशल है। दौड़ता तो मेरी कहानी दूसरे ढंग से लिखी गई होती।'

'किस तरह ?' मैंने पूछा।

उन्होंने उत्तर दिया—नानी कह रही थीं, रानी घोड़े पर तो तू चढ़ रही है, किन्तु ऐसा न हो कि घोड़ा सरपट ले भागे। अर्थात् जिससे घोड़ा मुझे निरुद्देश्य न ले जाकर ठीक स्थान में पहुँचा दे। मैं सवार थोड़े ही हूँ, मैं तो इसका बोझा हूँ।

'ठीक ही है।' मैंने कहा—इस वक्त कितनी दूर जायँगी ?

'चलिए न, जितना दूर भी चला जाय। नानी के पाँव में फिर तकलीफ हो गई है, अधिक रास्ता चलने से पाँव फूल जाते हैं। चौधरी महाशय का शरीर भी खराब है।'

नाना प्रकार की बातचीत होने लगी। एक बार वह बोली—तीर्थ-यात्रा तो सब हो गई, उसके बाद ? आकर क्या लाभ हुआ ?

'पुण्य !'

'वह तो आपके लिए है, किन्तु मेरा क्या हुआ ?'

'आपके पाप भी तो थोड़े-बहुत कटे ही होंगे।'

'वही तो नहीं ! स्वदेश में यदि आप ऐसा कहते तो आपके विरुद्ध मानहानि का दावा करती। पाप तो मैंने किये ही नहीं हैं !'

विस्मित होकर मैंने कहा—यह क्या, हिन्दू-कुल की लड़की के पाप नहीं ! हमारे देश की प्रत्येक स्त्री की यह धारणा है कि वह पापी है, अधम है।

'वह हिन्दू-कुल की लड़की है, किन्तु हिन्दू नहीं। मैं तो देख रही हूँ कि मुझे लाभ ही हुआ है, कुछ दिन कोल्हू के जुए से छुट्टी मिली है, पहाड़ों व वनों में घूमने का मौका मिला है, और इस घोड़े पर सवारी करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।'

बातों ही बातों में एक समय उनसे पूछ बैठा—अच्छा, आपके स्वामी कब मरे ?

'दुहाई आपकी।' कहकर वह थोड़ी अशान्त हो उठीं—कृपाकर सहानुभूति न दिखाइए। छोटी उम्र की विधवाओं के लिए रो उठना आजकल के युवकों की बुरी आदत हो गई है। देश में विधुरों के लिए तो कहीं स्त्रियाँ रोती नहीं ? मुझे कोई दुःख नहीं, फिर भी दुनिया भर के लोग मेरी ओर देखकर कहते हैं, आहा ! आहा कहते ही मानो मेरी पीठ पर चाबुक पड़ता है !

'ठीक है।'

क्षेती चट्टी पार होते ही सूर्य प्रायः सिर के ऊपर आ गया। इस बार रास्ता चढ़ाई का है तथा सँकरा है। मनुष्यों का समागम अब कहीं नहीं दिखाई देता, दोनों ओर का अरण्य घना हो गया है। दोनों ओर घने वृक्ष-लताओं से यह स्पष्ट दिखाई देनेवाला दिवालोक बीच-बीच में छाया के अन्धकार से घिर जाता है। झिल्ली की झंकार सुनाई दे रही है। जंगल के फूलों की मिली हुई गंध से रास्ते की हवा कहीं-

कहीं असहनीय हो जाती है। लतावितान के छिद्रों से वासन्ती वायु रह-रहकर अपने उच्छ्वास से मर्मरित हो उठती है।

चढ़ाई पार करना बहुत कठिन है, घोड़ा थक गया है। साईस पीछे ही था, इस बार उसने सामने आकर लगाम पकड़ ली और घोड़े को खींचते-खींचते ऊपर उठने लगा। रास्ता बहुत कठोर है और टूटा-फूटा है।

'इतनी देर हो गई, नहाया-खाया नहीं, आपको निश्चय ही चलने में कष्ट हो रहा है।'

मैंने कहा—मैं भी यही सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ कि रास्ता इतना भयानक है फिर भी चलने में कष्ट क्यों नहीं हो रहा है। विश्राम भी नहीं ले रहे हैं।

रानी ने कहा—ठीक है, अपनी शक्ति कहाँ एकत्रित पड़ी है, यह हम खुद ही नहीं जान पाते।

डेढ़ मील रास्ता पार कर जिस समय गंबाबाज चट्टी में आकर पहुँचे तब उस समय अन्दाज़ एक बज गया होगा। अब और नहीं, सामने छोटे-से झोंपड़े के अन्दर आकर झोला-झंडा उतारा। रानी घोड़े से उतर गईं। साईस घोड़े को शायद कहीं दाना-पानी देने के लिए ले गया। निर्जन चट्टी, दुकानवाला भी रास्ते के नीचे रहता है। सामने रास्ते के उस पार एक झरना बह रहा है। मक्खियों से बेहद परेशानी है। उन्होंने शरीर पर से चादर खोलकर कहा—अपने को ढँककर चुपचाप बैठिये, मैं हाथ-मुँह धोकर आती हूँ, अगर सभी न आयेंगे तो खाने-पीने का इन्तजाम न होगा।

मुँह धोकर वह फिर सामने बैठी, मक्खियों के उत्पात से बचने के लिए बाध्य होकर उन्होंने चादर का एक और हिस्सा पाँवों के ऊपर तक डाल दिया। कहने लगीं—इस तरह से परदेश में परभूमि में क्या अकेले आते हैं? शरीर की हालत का तो कहना ही क्या, घर जाकर कुछ दिन आराम कीजिये, शान्त होकर बैठे रहिये।

अघोर बाबू की स्त्री के निकट विदाई का उस दिन का दृश्य मेरे मन में अब भी उसी रूप में मौजूद है, उस भयानक आघात को मैं नहीं भूला हूँ; ब्रह्मचारी के साथ घनिष्ठता कैसे छिन्न-छिन्न हो गई यह भी मुझे स्पष्ट विदित है; सोच लिया है कि पथ में और किसी के साथ स्नेह-ममता के बन्धन की सृष्टि नहीं करूँगा। हृदयावेग के खेल में अनेक दुःख पाये हैं।

बोला—धन्यवाद ! इसके बाद खाने-पीने की व्यवस्था नहीं करेंगी ?

रानी ने कहा—विद्रूप कीजिये, सह लूँगी ; किन्तु निरादर नहीं सह सकती । कहकर हठात् रास्ते की ओर देखकर उन्होंने मेरे पाँवों के ऊपर से चादर उठा ली और खड़ी हो गईं । नानी आ रही हैं । धूप और रास्ते की थकान से नानी का चेहरा एकदम बदल गया है ।

नजदीक आकर नातिन को देखते ही वह फट पड़ीं—यह भी क्या रानी, जो पैदल चलकर आ रहे हैं उनके ऊपर जरा भी रहम नहीं ? घर तो चल, सबके सामने यह बात कहूँगी । इतना अन्याय, इतनी बेअदबी ! यहाँ तक आने के लिए तुझको किसने कहा था ? क्षेती चट्टी में क्यों नहीं रुकी ? यह कहते-कहते वह छप्पर के भीतर आ बैठीं—तुमको अपने साथ लाने में मेरे ऊपर भारी जिम्मेदारी है, मुझे तुझे आँखों के सामने रखना है, पराई लड़की, छोटी उम्र की, क्यों तू आई आगे-आगे ? तू नहीं जानती कि, मेरे पावों में तकलीफ है और मैं चल नहीं सकती हूँ ?

रानी चुप है, मैं नतमस्तक । समझ में आ गया कि उसका अभियोग और भय कहाँ है ! थोड़ी देर में बुआ और एक वृद्धा चट्टी में आ पहुँचीं । बहुत देर तक तिरस्कार-तीर और व्यंग्य-बाण उस मौनमुखी नवयुवती के ऊपर बरसते रहे । धीरे-धीरे उठ कर पास की चट्टी में चला गया । भोजन की व्यवस्था में अब देर न करनी चाहिए ।

करीब दो घण्टे बाद झरने के जल से बर्तन धोकर जब चट्टीवाले के पास से हिसाब लेने के लिए जा रहा था, उस समय छप्पर के भीतर से गर्दन बाहर निकाल कर रानी बोली—खाना-वाना बनाया लेकिन हम लोगों से खाने के लिए एक बार भी नहीं पूछा ? हमारा तो दिन उपवास में ही गया । कहकर उन्होंने एक म्लान हँसी हँसी ।

नानी भी उसके साथ हँसीं । मालूम हुआ कि आबहवा हलकी हो गई है । नानी की ओर देख कर मैंने कहा—आपने खाना क्यों नहीं बनाया ?

उन्होंने कहा—दल-बल सब बिखर गया । बिना चौधरी महाशय आदि के हम तो खा नहीं सकते भाई ।

अपराह्न में जिस समय कालीमाटी चट्टी में आकर रुका उस समय शरत्काल के-से एक काने मेघ से बारिश झर रही थी । बादल के पार पश्चिम का आकाश लाल धूल में रक्ताभ हो उठा है, अतः बारिश देखकर चिन्तित होने का कोई कारण नहीं । गोपालदा की मण्डली ने पीछे

से आकर मुझे फिर गिरफ्तार कर लिया। इस समय हम बंगालियों के चारेक दल एक साथ चल रहे हैं। स्वामीजी का दल आकर मिल गया है। चार दलों में करीब साठ व्यक्ति हैं, उनमें से प्रायः पचास स्त्रियाँ हैं। सभी आकर रुक गये। नानी की मण्डली के चौधरी महाशय आदि का अब भी पता नहीं है, सुबह से ही विच्छेद है। इस ओर बारिश देखकर और आगे चलने के सम्बन्ध में अनेक हिचकिचाने लगे, लेकिन सारे आकाश को देखने पर आगे जाना ही निश्चित हुआ।

नानी और आगे नहीं चलीं, चट्टी में आश्रय लेकर रात्रि के लिए रुक गईं, चौधरी महाशय वगैरह तब भी नहीं पहुँच पाये थे। अब मैं क्या करूँ, न जा सकता हूँ और न रुक सकता। चट्टी के आँगन में एक झरने के मुख पर बाल्टी रखकर पानी लेने के लिए रानी आई है। जल देखते ही प्यास लग जाती है, अतएव पानी पीने को गया। रानी ने कहा—आज आप आगे चले जाइए, इनको एक बुरा सन्देह हुआ है...कल मेहलचौरी में निश्चय ही हमें मिलना चाहिए।

मैंने कहा—इसके बाद मिलना क्या ठीक है?

स्नेह भरे किन्तु कठिन और स्पष्ट कण्ठ से उन्होंने जवाब दिया—निश्चय उचित है। जान लें कि मैं किसी की अधीन थोड़े ही हूँ।

दल के साथ फिर रास्ता पकड़ा। एक मील पार जाकर रसियागढ़ चट्टी मिली। इसी चट्टी में रात्रि में रहना है। रात को भोजन-करने के बाद तम्बाकू पीते हुए गोपालदा ने एक बार कहा—वे चाहे कुछ ही कहें किन्तु मुझे तो, भाई, उनकी बातों पर विश्वास नहीं होता।

मैंने पूछा—क्या मामला है?

'वही स्वामीजी के दल में तुम्हारी चर्चा कर रहे थे।'

'क्या कह रहे थे?'

'जिस लड़की का नाम तुमने लालसाड़ी रखा है, वही तुम्हारे विरुद्ध कहने-न-कहने लायक बातें कह रही है। सभी ने तुम्हारे विषय में पूछा। लालसाड़ी ने कहा, वह तो घोड़े के बाल पकड़ कर वैतरणी पार हुए हैं! वह लड़की सबको छेड़कर इस तरह बात करती है। स्वामीजी वगैरह सब हँस रहे हैं। मैं अच्छा कहकर सुनता रहा!'

मैंने कहा—इस बीच में इतना बड़ा काण्ड हो गया?

धीमे-धीमे गोपालदा ने कहा—होती रहें ये सब बातें, मैं तो तुम्हें जानता हूँ, तुम कलंक के भागी नहीं हो, वे तुम्हें जानते ही कहाँ हैं भाई?

मैंने कहा—सत्य भी तो हो सकता है गोपालदा?

'होता रहे सत्य, उससे मुझे भय नहीं, गंगा के जल में मैला आकर मिल जाय तो उससे क्या गंगा अपवित्र हो जाती है ?'

मैं हँसकर बोला—तब अच्छी ही बात कहता हूँ, ब्रह्मपुत्र आकर मिली है पद्मा में।

दूसरे दिन खाड़चट्टी और धूनारघाट के छोटे पहाड़ी शहर को पार कर जिस समय दाड़िमडाली आ पहुँचे उस समय साँझ हो गई थी। धूनारघाट से मिली है रामगंगा नदी, और मिले हैं छोटे-छोटे प्रान्तर। कहीं-कहीं मैदानों में खेती हो रही है। प्रायः लहराता हुआ मैदानी रास्ता है। आसपास में कई गाँव हैं। गाँव समृद्धिशाली हैं। करीब नौ बजे के समय साढ़े चार मील और चलकर इतने दिनों के बाद हम गढ़वाल जिले के अन्तिम हिस्से मेहलचौरी में आ पहुँचे। खयाल था कि मेहल-चौरी कुछ देखने-दाखने लायक होगा, किन्तु वह इतना साधारण होगा—इस बात को स्वप्न में भी नहीं सोचा था। यहीं टिहरी राज्य की अन्तिम सीमा है। वे समस्त गढ़वाली कुली जो एक दिन हरिद्वार से बोझा ले जाने के लिए नियुक्त किये गये थे, यहाँ से विदा ले लेंगे। इसके बाद ब्रिटिश सीमा है और बिना पासपोर्ट के ब्रिटिश सीमा में प्रवेश करने की उनको आज्ञा नहीं है। हम सभी एक देश के मनुष्य हैं, सभी भारतवासी हैं, फिर भी एक सामान्य राज्यगत कारण से हम आपस में विच्छिन्न हैं। मेहलचौरी अत्यन्त मैली और अस्वास्थ्यकर जगह है। पास ही में रामगंगा नदी है और नदी के ऊपर एक पुल है।

करीब ग्यारह बजे के समय चौधरी महाशय का दल धूमधाम के साथ आ पहुँचा। उनके साथ दसेक काँडीवाले थे। रानी घोड़े की पीठ पर आई। दूर से एक-दूसरे को देखने पर ऐसे अभिवादन किया कि जिससे और लक्ष्य न कर सकें।

उसके बाद विश्राम और भोजनादि की व्यवस्था हुई। यहाँ गोपा-लदा की मंडली में ब्राह्मणी के साथ किसी एक कारण से मेरी कहा-सुनी हो गई; धीरे-धीरे तिल का ताड़ हो गया। चारू की मा ने चुपचाप कहा—ब्राह्मण देवता, उस बूढ़ी के साथ झगड़ा करना भी तुम्हारा अपमान है, तुम चुप हो जाओ।

हँसकर मैंने कहा—चारू की मा, झगड़ा तो करता नहीं, धमकी दे रहा हूँ।

चारू की मा ठहाका मारकर हँस पड़ी और बोली—अच्छा, झगड़ा नहीं, धमकी है ? तब तो दो-एक बातें और सुना दो, मैं भी खुश हूँगी।

हम सभी चुपचाप हँसने लगे, बूढ़ी ब्राह्मणी रो उठी। स्नान करने का समय हो गया, तौलिया लेकर रामगंगा चला आया। पत्थर तोड़कर नीचे उतरना होता है। थोड़ी-थोड़ी वृष्टि हो रही है।

स्नान करके सावधानी से देखते-भालते रानी उस समय नदी से वापस चली जा रही थीं। एक जगह खड़ी होकर बोलीं—ओफ़, आप इतनी कहासुनी कर सकते हैं! देखती हूँ कि आप पूरे भलेमानस नहीं हैं। सुनिए, इस बार उन लोगों के दल को छोड़ दीजिए, चलिए हमारे साथ, एक साथ इधर-उधर फिरेंगे। और हाँ, आप यहाँ से एक घोड़ा कीजिए, समझ गये, दोनों जने घोड़े पर होंगे तो ठीक होगा।

'किन्तु—'

आँखें फाड़कर वह बोलीं—मेरी बात अवाध्य नहीं होगी—कहकर हँसती हुई जल्दी-जल्दी उठकर चल दीं।

अमरसिंह चला गया है, आज काँडीवालों ने भी विदा ले ली। विदाई का दृश्य करुणाजनक था। तुलसी, कालीचरण, तोताराम सभी ने प्रेमपूर्वक विदा माँगी; गढ़वालियों की यह एक विस्मयकर सरलता है। चौधरी महाशय के काँडीवाले तो जोर-जोर से रो रहे थे। रानी उन सबके लिए माता के समान जो हैं; उनके समान इतनी दयावती, स्नेहमयी देवी उन्हें जीवन में कहाँ मिल सकती है। रानी के दान से उनकी झोलियाँ भर गईं। कपड़े, चादर, पुराने कम्बल, बर्तन और नकद इनाम; मजूरी से इनाम ज्यादा हो गया। उनमें जो सबसे छोटा कुली था, वह कुछ नहीं चाहता था, केवल एक अबोध शिशु की तरह रानी के आँचल में मुख छिपाकर, सिसक-सिसककर रोने लगा। पराया जिस समय अपना होता है वह उस समय आत्मीय से भी अधिक अपना होता है। ऐसा दृश्य जीवन में कभी नहीं देखा था। रानी की आँखें भी सजल हो आईं। राजकुमारी और श्रमिकों के बीच में आज कोई अन्तर नहीं रहा। दुःख में, दुर्योग में, पथ-पथ में, इन दीर्घ चालीस दिनों में आज उन्होंने जाना, वह मा उनकी अपनी मा नहीं है, संसार के अपार जन-अरण्य में उनकी मा अदृश्य हो जायगी। यहाँ मुझे भी सबसे विदा लेनी पड़ी। बूढ़ी ब्राह्मणी के साथ विवाद के बाद गोपालदा की मंडली को आज यहीं से त्याग देना पड़ा। सोचा, यदि संभव हुआ तो स्वदेश जाकर फिर मिलूँगा। काफ़ी दिनों तक गोपालदा के साथ रहा हूँ, हृषीकेश की वही बातचीत, आज उनसे बिछुड़ना बहुत अखर रहा था। खैर, ठीक तीन बजे स्वामीजी और गोपालदा

की मंडलीवाले घोड़े पर माल-असबाब रखकर मेहलचौरी छोड़कर चले गये। उस समय अपराह्न का समय था।

चौधरी महाशय वगैरह की मन्शा देखकर ऐसा ज्ञान पड़ा कि आज मेहलचौरी में ही रात काटनी होगी, उनको कोई विशेष जल्दी नहीं है। यहाँ से रानीखेत तक के लिए अपने लिए एक घोड़ा ठीक किया है। घोड़ा ठीक करके चौधरी महाशय से जल्दी करने को कहा, अन्त में वह चलने को राजी हो गये।

अतएव अब कोई कठिनाई नहीं। यात्रा शुरू करने में पाँच बज गये। घोड़े की पीठ पर कम्बल और झोला दबाकर, लाठी साईस महेन्द्रसिंह को दी—सईस की चाल-ढाल प्रधानतः 'माइ डियरी' की-सी थी। उसके बाद राजा शिवाजी के क़ायदे के अनुसार सिर पर पगड़ी बाँधकर वीर पुरुष की भाँति घोड़े की पीठ पर चढ़ गया। रस्सी की जीन और रस्सी की लगाम, सवार के हाथ में पेड़ की एक पतली डाल। ख़ैर, इसी दशा में घोड़े को एड़ी लगाकर मैंने कहा, 'हट, हट!'

घोड़ा पाँव उठाकर चलने लगा। कुछ दूर जाकर पीछे की ओर देखा तो रानी अपने घोड़े को हाँकती हुई, हँसती आ रही हैं, पहाड़ के एक मोड़ पर आकर हम इकट्ठा हुए। उन्होंने कहा—हम घोड़ों को दौड़ाकर अपने पीछे धूल उड़ादें जिससे वे देख न पायें, क्या राय है?

मैंने कहा—किन्तु उसके बाद?

'उसके बाद और क्या, शासन और सन्देह सिर पर भले ही खड़े रहें, हम आगे चले जाते हैं।'

'उसके बाद?'

'यह देखा जाय कि किसका घोड़ा अच्छा है।' वह हँसीं।

मैं बोला—मेरा घोड़ा ही अच्छा है।

'ख़ाक अच्छा है, उससे मेरा घोड़ा कहीं तेज है।'

'मेरा खूब दौड़ता है।'

'दौड़ने से ही अच्छा नहीं हो जाता, जहाँ रुकेगा वहीं मरेगा।'

सूर्यदेव अस्ताचल को प्रस्थान कर रहे हैं। कहीं-कहीं पेड़ों पर वन-पक्षियों का सांध्य-कलरव शुरू हो रहा है। दक्षिण में नदी के ऊपर छाया का अन्धकार उतर रहा है। दोनों साईस पास-पास चल रहे हैं, वे बातों में मशगूल हैं। हम भी पास-पास चल रहे हैं।

स्वर्ग से विदा; मर्त्य-लोक का बुलावा मिला है, वहाँ फिर चला जाना होगा। वही कलह-कलङ्क, विद्वेष और मालिन्य, सामान्य स्नेह

और प्रेम, शौकीन भाईचारा तथा नगण्य आत्मीयता। फिर भी लौटना ही होगा। महाप्रस्थान के पौराणिक पथ को कर्णप्रयाग में छोड़ आये हैं ; यह पथ ऐतिहासिक है, दक्षिण-पूर्व में टिहरी की सीमा मेहलचौरी होकर यह पथ-रेखा चली आई है वर्तमान सभ्य भारत की ओर, मानव-समाज को यह पथ स्पर्श करता है। स्वर्ग-प्रवास अनेक बीते दिनों की बात हो गई है, स्मृति और विस्मृति का एक गोधूली-प्रकाश छा गया है, कानों में आ रहा है मर्त्य-भूमि का क्षीण कलरव, जीवन की विचित्र जटिलता हाथ से इशारा कर बुला रही है।

मेहलचौरी पीछे रह गया। चढ़ाई के रास्ते में यात्री धीरे-धीरे उठ रहे हैं। हमारे घोड़े धीरे-धीरे चल रहे हैं। साईस पीछे-पीछे आ रहे हैं। दक्षिण ओर नीचे धीरे-धीरे अन्धकार होता जा रहा है। सामने पर्वत के पार पश्चिम का आकाश लाल हो उठा है, संध्या आकर बैठ गई है अपराह्न के आसन पर। बाईं ओर पठार पर चीड़ के जंगल में मन्थर वायु बीच-बीच में गुंजन-ध्वनि करती जाती है। यहाँ का पथ पहले की अपेक्षा विस्तृत है। रानी अपने घोड़े को लेकर पास ही चल रही हैं। एक बार बोलीं—हम ठीक चल रहे हैं न, भूलेंगे तो नहीं ?

मैंने कहा—इस रास्ते में भूल नहीं हो सकती, सीधा रास्ता है।

थोड़ी-थोड़ी बातचीत हो रही है ; जिस बात को कह रहा हूँ उसे खुद भी सुन रहा हूँ, उन्हें भी यह लगा कि अपनी बात के लिए ही वह कान लगाये बैठी हैं। ऐसा ही होता है। जब हम अपनी बात को अपने ही कानों सुनते हैं, उस समय यह समझ लेना चाहिए कि उस कथा की अतीत वस्तु को हम उपलब्ध कर रहे हैं।

'चारों दिशाएँ कितनी सुन्दर हो उठी हैं, देखते हैं ?'

चारों दिशाओं को अवश्य देखा, किन्तु वह विस्मयकर रूप बाहर का है अथवा मेरे अन्तर का ही ? नारी के साथ एक रस-प्रकृति रहती है, आल्हादिनी शक्ति; वह शक्ति पुरुषों में आनन्द तथा अनुप्रेरणा का संचार करती है, मन्दिर के निद्रित देवता के कानों में जागरण-गान भरती है ; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि नदी में चारों ओर से गिर पड़ता है वर्षा का जल, सर्वाङ्ग में आ जाता है वेग, उठ पड़ता है बाढ़ का ज्वार, आ जाती है सक्रियता और उस जल को लेकर नदी चल पड़ती है परम लक्ष्य की ओर। इस शक्ति को अंगरेजी में चार्म कहते हैं।

घोड़े की पीठ पर पेड़ की डाल के चाबुक से दो-एक चोटें मार रानी ने फिर कहा—पर इस बार आप पहिचाने नहीं जा रहे हैं।

'क्यों ?'

'संन्यासी हो गया है गृहस्थ। पञ्जाबी धोती पहने हैं, सिर पर पगड़ी है, मालूम होता है कि इसका रंग कभी गेरुआ था। आदमियों का चेहरा बहुत जल्दी बदलता है।'

मैं बोला—केवल स्त्रियों का नहीं बदलता है। चाहे तीर्थ करें या घोड़े पर भी चढ़ें, असल में वे...?

हम दोनों जने हँस पड़े।

'खैर जो भी हो, आज़ादी खूब मिली। नानी से मैं बहुत डरती हूँ।'

'तिसपर भी आपने यह कहा है कि आप किसी के आधीन नहीं हैं?'

'वह नितान्त आर्थिक स्वाधीनता है...'रानी ने कहा—किन्तु आप जानते हैं कि मैं किस भयानक रूप में पराधीन हूँ ?

मैं चुप रहा।

'यह अवस्था होने पर भी मेरे अपमान का अन्त नहीं। घर के बाहर पाँव निकालना मना है, भाई-बन्धु, आत्मीयजनों के साथ बात करना भी मना है, पुस्तक समाचार-पत्र, आदि पढ़ना सभी को नापसंद है—इसका क्या कारण है, जानते हैं?—मेरी उम्र छोटी है। इस नानी से बहुत डरती हूँ; कारण घर लौटकर वह अच्छी बात नहीं कहेंगी; मिथ्या बात को ही बड़े रूप में चित्रित करेंगी। यह मेरी सगी नानी नहीं, मेरी मा की चाची हैं। दुःख भाई की तरह मेरा चिरसंगी बन गया है।'

उनके निःश्वास से वायु भारी हो गई। मुँह से कोई बात न निकल पाई, चुपचाप घोड़े हाँककर चलने लगे।

इस बार रास्ते में पहले चढ़ाई, उसके बाद मैदान, चलने में कोई खास तकलीफ नहीं—किन्तु रास्ते में कई मोड़ तथा कई जटिलताएँ हैं। कहीं से तो बहुत दूर तक दृष्टि जाती है और कहीं हम बिलकुल पहाड़ के भीतरी महल में घुस पड़ते हैं। हमारे दोनों घोड़े शान्त और निरीह हैं, उनको हाँकना जरूरी नहीं, वैरागियों की तरह उदासीन होकर वे चल रहे हैं। वे जानते हैं कि हम कहाँ, कितनी दूर जायेंगे।

इन दीर्घ तैंतीस दिनों में जिन नगण्य यात्रियों के साथ परिचय हुआ है उनके बारे में सोच रहा हूँ। आज यदि वे मुझको देखें तो नहीं पहिचान पायेंगे। तैंतीस दिनों तक जो मनुष्य मितभाषी था, निर्लिप्त और उदासीन था, आज उसका वही चेहरा बदल गया है। जो व्यक्ति बिजली, छाँतीखाल, गुप्तकाशी, रामवाड़ा, उखीमठ आदि की चढ़ाइयों को मुँह बन्द कर पार कर गया, आज वही व्यक्ति घुड़सवारी का

शौकीन बन गया है—निश्चय ही वे लोग यह सब देखकर अवाक् हो जाते। उनकी धारणा के अनुसार मैं पत्थर की भूमि की तरह कठोर हूँ, बात यह है कि मेरी तरह कष्ट-सहिष्णु तथा तन्दुरुस्त यात्री इस वर्ष एक भी नहीं आया। ऐसा जान पड़ता था कि वे लोग आज अपनी आँखों से देखने पर भी यह विश्वास नहीं करेंगे कि मैं फुहारे की तरह मुखर हो गया हूँ, मेरे मन का आकाश रंगीन क्रीड़ा-स्थल बन गया है, संन्यासी का मैंने जो वेश धारण किया था वह गिर पड़ा है, एक अपरिचित नारी के साथ अरण्य-पथ में घोड़े पर जा रहा हूँ—मेरी पूरी हो चुकी है बद्रिकाश्रम-यात्रा, शेष हो गया है तीर्थ-पथ। वे लोग विश्वास नहीं करेंगे, क्योंकि संसार का नियम ही ऐसा है। हम एक सीधे माप-दण्ड से मनुष्य को नापते हैं, एक नियत घेरे में उसको आबद्ध रखते हैं—जिसका रंग सफ़ेद है उसको सदा सफ़ेद ही देखना चाहते हैं। भय से, जीवन के सहज विकारों को रोककर चलना ही साधारण मनुष्य का स्वभाव है—मानव-धर्म केवल चाहता है परिपूर्ण रूप से आत्म-प्रकाश करना। जो नीति के क्रीत-दास हैं, सामाजिक रूढ़ियों के आगे जिन्होंने अपने को बेच दिया है, हृदय-धर्म को सैकड़ों कठोर बन्धनों से बाँधकर जिन्होंने जीवन को संकुचित कर दिया है, वंचित कर दिया है, वे आत्म-विकास की रीति को नहीं जानते।

मनुष्य की सहज प्रवृत्ति, प्रकृति तथा मस्तिष्क को हम तथाकथित पाप-पुण्य के विचार-दमन द्वारा उत्पीड़ित करते हैं—इस बात को कौन स्वीकार नहीं करेगा? यदि हम चाहते हैं स्वाभाविक तथा स्वास्थ्यपूर्ण जीवन बिताना, यदि हमारी इच्छा है कमल की तरह सूर्य को देखकर विकसित होना—तब आज मन्दिर, मसजिद और गिरजे के दरवाज़े बन्द कर देने होंगे, बन्द कर देनी होगी धर्माध्यक्षों और नीति-प्रचारकों की वाणी—उन स्वार्थान्ध व्यक्तियों की वाणी जो अपने आदर्शों और अपनी रुचि से निर्बोध जन-साधारण को बाँध देते हैं और मूढ़ मानव-समाज को अपनी अँगुलियों के इशारे पर चलाना चाहते हैं। मनुष्य को चरित्रवान् और 'गुड बॉय' बनाने के लिए इतने कार्य-कलाप हैं, यह समझकर ही उसका मन इतना विकार-ग्रस्त हो उठता है—पृथ्वी में इसी लिए इतनी हिंसा, मारकाट तथा लोलुपता है। भारतीयों की निर्विरोध, निष्क्रियता, आरामप्रियता तथा दुनिया के दरबार में युग-युग तक लांछित होने के मूल में जो वस्तु काम कर रही है, वह है इस देश के अति-मानुष तथा अ-मानुष के चरित्र की शिथिलता। इस देश में

देवता और दानवों की भीड़ है, मनुष्यों की संख्या कम है। यहाँ तो तबसे अब तक देश के सर्वांग का शोषण कर अति-मानुष दल ने खड़े किये हैं केवल संन्यासियों के निवास-स्थल। मठ, आश्रम-संघ आदि की इतनी भीड़ इस देश में है कि कहीं भी आगे पाँव बढ़ाने को जगह नहीं मिलती। मनुष्य मर गया है। उसके बदले आ गये शिष्य, सेवक और महाजन! इनका नाम है 'रिलिजस इन्स्टीट्यूशन। सर्वशास्त्र-पारदर्शी तथा सर्वज्ञ ये लोग! इनके इच्छा-यंत्र द्वारा ही 'गुड बॉय' तैयार होता है।

आज वे लोग मुझको देखकर विश्वास नहीं करेंगे। यह बात उनको कैसे समझाऊँगा—जाड़े के बाद वसन्त आता है, उसके बाद आती है वर्षा! कभी निगूढ़-ध्यान-तपस्या में शंकराचार्य के उत्तरधाम के पथ पर चला था—शरीर पर गेरुए वस्त्र थे, पीछे लम्बी जटा थी, साथ में थी श्मशानवासी प्रेतों की मंडली, चक्षु थे शिव-नेत्र;, उत्तर की हवा के कारण दिन-प्रति-दिन मेरे हृदय के अन्दर जम गई थी बर्फ की तह—कठोर निश्चल बर्फ की मरुभूमि। उसके बाद चञ्चल वसन्त के उपवन में, मालती-मल्लिका की छाया से वेष्टित अरण्य-वीथिका में चला आया, दक्षिण पवन के दाक्षिण्य में मिल गया माधुर्य का आनन्द! अस्थिमाला के बदले आज मेरे अङ्ग-अङ्ग में लाल पलाश के गुच्छे हैं; माथे पर ऋतुराज का स्वर्ण-मुकुट है, चिता-भस्म के बदले पराग है, हाथ का भृङ्ग बदल गया है बाँसुरी में—वसन्त की बाढ़ में वैराग्य बह गया है।

रानी बोलीं—अपनी आपबीती सुनाकर शायद आपको दुःख ही दिया।

दूर पर उस समय बिजरानी चट्टी में प्रकाश दिखाई दे रहा था। मैंने कहा—इसमें हिचकिचाहट क्यों, दुःख के घर में दुःख ही तो अतिथि बन कर आता है।

'अच्छा, यही सही!' उन्होंने हँसकर कहा—अच्छा, आपको याद है रविबाबू की वह कविता? फिर वह खुद ही अपने कोमल कंठ से बोलीं—

राजपथ दिये आसियोना तुमि, पथ भरियाछे आलोके, प्रखर आलोके।
सबार अजाना (अनजाना) हे मोर विदेशी,
तोमारे ना जेन देखे प्रतिवेशी,
हे मोर स्वपनविहारी।
तोमारे चिनिब प्राणेर पुलके,
चिनिब सजल आँखिर पलके,
चिनिब विरले (एकान्त में) नेहारि परम पुलके।
एसो प्रदोषेर छायातल दिये (अन्धकार में), एसो ना पथेर आलोके, प्रखर आलोके।

मैंने कहा—भले मानस ने अच्छा ही लिखा है। अच्छा, किन्तु इस बार मैं आगे चला जाता हूँ।

घोड़े को दौड़ाने की चेष्टा की, किन्तु उसे दौड़ाना इतना सहज नहीं था। चाबुक मारने से थोड़ा आगे जाता है, फिर देखते-देखते उसकी चाल मन्द पड़ जाती है। इस तरह जब चट्टी के पास आकर घोड़े से उतरा तो उस समय काफी अँधेरा हो चुका था। सामने पास-पास पत्थरों के बने दो पक्के घर हैं, उनके साथ बरामदा है, पहिली चट्टी के नीचे मिठाइयों की एक बड़ी दुकान है—तब तो रात अच्छी तरह ही कटेगी। चारों ओर भिन्न-भिन्न पेड़ों के जंगल हैं, पीछे की तरफ़ थोड़ा खुला मैदान है, पथ के इस ओर पत्थरों से पटा हुआ एक झरना। मालूम होता है कि थोड़ी देर पहले यहाँ वर्षा की एक फुहार बरस चुकी है, सारी धरती गीली हो गई है।

चौधरी महाशय सदलबल आकर हाजिर हो गये। पहली चट्टी के दुमंजिले में सबने आश्रय लिया। पास के घर में उत्तर भारतीयों तथा मारवाड़ियों की एक मंडली आ गई। घोड़ों को महेन्द्रसिंह और प्रेमवल्लभ दाना-पानी देने के लिए कहीं ले गये—यह बात तय हुई कि तड़के ही वह घोड़ों को लेकर हाजिर हो जायँगे। सामान खोलकर दुमंजिले में भीतर तथा बरामदे में चौधरी महाशय वगैरह ने बिस्तर बिछाया, नीचे पूरियों की दुकान में से जल-पान का थोड़ा-बहुत प्रबंध हुआ—रानी बालटी लेकर झरने से जल लाने गई। जिसकी उम्र छोटी होती है, परिश्रम का अधिक भाग उसी को मिलता है।

भोजन करने के बाद ही शयन। इस बीच में बुआ के साथ किसी की कुछ खटपट हो गई, वह बिना कुछ खाये-पिये ही बरामदे के किनारे कम्बल बिछाकर सो गई। बुआ की समस्त हँसी व रसिकता के पीछे रहता है एक विषधर साँप का फन, मनुष्य पर एकाएक चोट करना ही उसकी रीति है। किन्तु इस विलीयमान कोलाहल के बीच कमरे के मध्य में मौन रूप में देखने पर उस दिन मैंने जो दृश्य देखा, वह आज भी हू-बहू मुझे याद है। रानी ने जो दीक्षा ली है, सुबह और शाम वह जिस जप में बैठती हैं उसको मैं जानता था, लुक-छिपकर देखा भी था; किन्तु उसका रूप ऐसा है यह आज पहली बार मैं समझा। सामने लालटेन का प्रकाश है, उसी के पास आसन के ऊपर वह ध्यान में बैठी हैं, दोनों आँखें मूँदी हुई हैं, उनके मुख के ऊपर एक अपूर्व लावण्य और आभा चमक उठी है, लेकिन इतना ही नहीं—उस मुख पर एक

प्रशान्त पवित्रता, संयम और सहज कृच्छ्र-साधना का एक अनिर्वचनीय माधुर्य है—ऐसा ज्योतिर्मय रूप सहसा नहीं दिखाई पड़ता। मैं एकटक देखता रहा। एक नजर देखकर जो किसी मनुष्य की आलोचना करने लगते हैं उनकी बात मैं नहीं कहता, किन्तु रानी के साथ मेरा थोड़े दिनों का परिचय है, बातचीत में पहले इनके संबन्ध में कई विरूप धारणाएँ मेरे मन में उठी थीं—वे धारणाएँ सत्य नहीं हैं। तथाकथित शिक्षित लड़कियों को मैं जानता हूँ, इस समय समाज में उनकी संख्या काफी बड़ी है, उनके चाल-चलन और आचार-व्यवहार में कालेजी ढंग होता है, चेहरे पर पालिश होता है, चरित्र में चटुलता, छलना-भरी भंगी होती है—जानता हूँ उनकी आशा-आकांक्षा का गोपन तत्त्व। पहले-पहले इनकी अनर्गल हँसी, इनका बुद्धि-दीप्त वार्तालाप इनका निस्संकोच व्यवहार और इनकी सरस बातचीत स्मरण कर कभी-कभी उनके प्रति भौंहें टेढ़ी हो गई थीं—सोचा कि यह भी तो उन्हीं में से एक हैं, वही एक पिरक्तिकर चरित्र की पुनरावृत्ति है; किन्तु नहीं, अब मत-परिवर्तन करना पड़ा। वही रात्रि, वही अन्धकार, वही नाना जातीय यात्रियों की भीड़, वही लालटेन का प्रकाश, उनके बीच में बैठकर मन बोला, साधारण जनों के घर में इसका स्थान नियुक्त न करो, उससे तो खुद तुम ही छोटे हो जाओगे। लड़की यदि तुम्हारी दृष्टि में उच्च नहीं हो सकती तो कोई हानि नहीं, लेकिन तुम्हारी आँखों के दोष से वह छोटी तो न हो जाय।

पृथ्वी में इतनी नास्तिकता, संशयवाद और सिनिसिज्म, मन की इतनी मलिनता और चरित्र का इतना अधःपतन, साहित्य का सुलभ रोमान्टिसिज्म और शौकीन कल्पना, सत्य और न्याय के तथाकथित आदर्श के प्रति मनुष्य का इतना अविश्वास है—किन्तु तब भी जो-कुछ सद्‌गुण मानव-चरित्र को उज्ज्वल बनाता है उसकी क़द्र हमें करनी ही पड़ती है। मनुष्य जिन-जिन गुणों से महान बनता है, जहाँ वह दृढ़ नैतिक शक्ति का परिचय देता है, वहीं हम भी उसके आगे माथा झुकाते हैं। वहाँ तर्क भी नहीं होता, अविश्वास भी नहीं होता, वहाँ हम झुककर कहते हैं तुम साधु हो, तुम्हीं महात्मा हो।

रात में जाड़ा हुआ, किन्तु जब कम्बल के अतिरिक्त बिछाने-ओढ़ने का और कोई चारा ही नहीं तब उसी को लेकर बरामदे के एक कोने में स्थान ग्रहण किया। उत्तर और दक्षिण की ओर खुला हुआ है, सर-सर करती हवा बह रही है—नीचे का गोलमाल शान्त हो गया, पास में

उत्तरभारतीय मंडली का उकतानेवाला गाना जिसकी बार-बार दुहराई जानेवाली एक ही रट गूँगे के बोलने के समान लग रही थी, बन्द हो गया और मेरी आँखों में तन्द्रा आ गई। सिर के पास चौधरी महाशय सोये हैं—यह अत्यन्त निष्कपट व्यक्ति हैं, उन्हीं के पाँवों की ओर सोई हुई है बुआ—वह ज़ोर से खुर्राटे भर रही है। बरामदे के भीतर अन्य वृद्धाएँ हैं, कमरे के भीतर हैं नानी और रानी। रात्रि नीरव है, दो दिन पहले अमावास्या हो गई है। द्वितीया का क्षीण चन्द्र कभी से पश्चिम आकाश में अदृश्य हो गया है, चारों दिशाओं में घोर अन्धकार है। आकाश के स्वच्छ तारे खूब चमक रहे हैं।

जाड़े से सिकुड़कर सो रहा था, न मालूम कैसे एक बार नींद टूट गई। आज चले तो हैं नहीं, अतएव परिश्रम भी नहीं हुआ, इसी लिए गहरी नींद नहीं आ रही है। एक बार देखकर फिर आँखें मूँद लीं। फिर नींद टूट गई। मृदु-लघु पद-शब्द को सुनकर अन्धकार में दृष्टि फैलाये मौन होकर देखा। इतने ही में देखता हूँ कि अत्यन्त सतर्कता से एक मानव-छाया निकट आकर एक बार हिचकिचाहट से इधर-उधर देखकर फिर चली गई। कमरे के भीतर के अत्यन्त मन्द प्रकाश में भी रानी को पहिचान लिया!

दूसरे दिन सुबह घोड़ा लेकर सबसे आगे चल दिया। आगे-आगे चलना ही ठीक समझा। चलते समय पीछे को भी नहीं देखा, आग्रह भी नहीं दिखाया, जाने कितना उदासीन हूँ! मध्य रास्ते में रानी पीछे से आकर मेरे साथ हो लेंगी, उसके बाद दोनों जने बातें करते चलेंगे, यह बात कोई नहीं जानता। तिसपर भी जिन्हें हमारा पहरा देते-देते आना है, हमें अपनी नजरों में रखना है, उनके लिए कोई उपाय नहीं, क्योंकि वे तो पैदल आयेंगे और हम चलेंगे घोड़े पर। अपने इस छल-कौशल के संबन्ध में आलोचना कर हम खुद ही हँसते हैं। सामाजिक मनुष्य के मन के रूप को हम जानते हैं—स्त्री-पुरुषों का मिलना-जुलना, स्वाभाविक बन्धुत्व, एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक ममता—ये सब उनको बहुत ही अखरते हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध पर उनकी सदा एक धारणा रही है, उसके सिवा और कुछ नहीं। समाज-बद्ध और संस्कार-बद्ध मन के विरुद्ध हम युद्ध-घोषणा करते, उसको रोकने के लिए हमारा आग्रह भी बढ़ जाता—उनके शासन, सन्देह और बन्धनों को तिरस्कार-पूर्ण भाव से ठुकराकर हम गर्व से चले जाते, वे हमारी छाया भी न पाते।

उस दिन सुबह पीछे से आकर रानी ने मुझे पकड़ लिया। फिरकर

देखता हूँ तो उनकी आँखें नींद से भारी हो रही हैं, मालूम होता है कि कल रात ठीक नींद नहीं आई—मुख पर हँसी है। बोली—गुड मॉर्निङ्ग। छू-छू, थोड़ा धीरे से चल बाबा, तू भी क्या अस्वाभाविक होना चाहता है ? ओ प्रेमवल्लभ, जरा बिन्दु को एक बार फटकार तो सही। देखती हूँ कि घोड़ा नानी से भी बढ़कर है !

हँस पड़ा। उन्होंने कहा—कल रात कुछ अन्याय कर बैठी, आशा है आप क्षमा करेंगे।

'क्या, कहिए तो ?'

उन्होंने सलज्ज कण्ठ से कहा—जाड़े से आप बिलकुल सिकुड़े पड़े थे, एक कम्बल देने गई थी ; किन्तु देने का साहस नहीं हुआ। दो कदम आगे चली तो तीन कदम पीछे लौट पड़ी—रात नीरव जो थी।

चुप बना रहा। उन्होंने कहा—भय हुआ कि यदि सुबह आपकी आँखें देर में खुलीं ? लोग देखेंगे कि मेरा कम्बल आपके ऊपर पड़ा हुआ है। ओह, तब क्या जवाब दूँगी ? उससे तो यही अच्छा है कि, आपको कष्ट होता रहे, अनेक तकलीफें उठाई हैं आपने। अच्छी बात, इस कविता के टुकड़े को आप कण्ठस्थ कीजिए। बद्रीनाथ के मन्दिर में बैठकर इसको मैंने दुहराया था ! यह कहकर घोड़े की पीठ पर से उन्होंने एक कागज मेरे हाथ में दिया।

कागज हाथ में लिया, किन्तु वह नहीं रुकीं, लगाम से घोड़े को इशारा कर उन्होंने अपना घोड़ा आगे दौड़ा दिया।

उस दिन का ज्योतिर्मय प्रभात। तमाम जंगलों में सूर्यदेव ने अपना ऐश्वर्य बिखेर दिया था। एक हाथ में घोड़े की लगाम पकड़ कर और दूसरे हाथ से कागज खोलकर पढ़ने लगा—

'मोर मरणे तोमार हबे जय।
मोर जीवने तोमार परिचय।
मोर दुःख जे राँगा शतदल
आज घिरिल तोमार पदतल,
मोर आनन्द से जे मनिहार
मुकुटे तोमार बाँधा रय।
मोर त्यागे तोमार हबे जय
मोर प्रेमे जे तोमार परिचय
मोरा धैर्य तोमार राज-पथ,
से जे लंघिबे बन-पर्वत
मोर वीर्य तोमार जयरथ
तोमार पताका शिरे बय।'

कुछ दूर आने पर वह फिर मिल गईं। वह घोड़ा रोककर प्रतीक्षा कर रही थीं। पुरानी बात जहाँ खत्म हो गई थी वहाँ से उसे फिर शुरू कर फिर हम एकत्र चलने लगे। अपनी कर्मधारा का परिचय वह नहीं देना चाहती थीं, उनमें लज्जा थी, उससे भी अधिक विनय और नम्रता थी। किन्तु मैं छोड़नेवाला शख्स नहीं, उनकी सब बातें जानना चाहता हूँ—साहित्यिक प्राण अत्यन्त कौतूहल से जाग उठे हैं, उनकी दुःख-गाथा में भी मुझे अत्यन्त आनन्द मिलता है।

मेरे कल्पना-लोक को उन्होंने नया रूप दे दिया है—मेरी प्रेरणा के सब बन्धन उन्होंने खोल दिये हैं।

धीरे-धीरे चल रहे हैं। उनकी बातचीत में अजस्रता है, प्राण की अपार बाढ़ है—उसी के प्रवाह में उनकी वार्ता मुक्त-धारा में बहती चली जा रही है।

हम समाज, साहित्य और साधारण जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में आलोचना कर रहे थे। वह उच्चकोटि की विदुषी तो थीं नहीं, किन्तु सब विषयों पर उनकी एक सुनिर्दिष्ट और सुदृढ़ राय थी। अपने जीवन में जिस वस्तु को उन्होंने हृदयंगम नहीं किया उसको केवल तर्क के बल पर मान लेने के लिए वह राजी नहीं थीं। सारी बातचीत में उनके सुरुचिसम्पन्न तथा उच्च मन की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। उनका मन उत्तम रूप में संस्कृत था।

नारियाँ पुरुषों के सम्पर्क में आकर प्रस्फुटित हो उठती हैं। अपने जीवन की अभिज्ञता उनकी कम नहीं है, अनेक देशों में घूमि-फिरी हैं, बहुत परिवार और परिजनों से संबन्धित महिला हैं। एक डाक्टर नवयुवक के साथ उनका विवाह हुआ, पश्चिम के एक शहर में वह घर-गृहस्थी बनाने के लिए गईं, वहीं पति के पास गाना-बजाना, साधारण रूप से अँग्रेजी पढ़ना-लिखना और हिन्दी व उर्दू सीखी, शिक्षयित्री द्वारा कुछ शिल्प-कला सीखी, सिलाई की मशीन चलाना सीखा और सीखी चित्रकारी—किन्तु यह सब अल्प दिनों तक ही, विधाता इस शान्तिपूर्ण सुखमय जीवन को न देख सका, पति की अकाल-मृत्यु हो गई—उनको सिर का सेन्दुर मेटकर खाली हाथ लौट आना पड़ा। जिस उम्र में नारी का मन संसार-स्वप्न का इन्द्रजाल बनता है, जिस उम्र में सन्तान-सन्तति की तीव्र इच्छा मातृ-हृदय में उच्छ्वसित हो उठती है, उसी उम्र में उनका इतना आशाप्रद जीवन दिशाहीन मरुभूमि के पथ पर आ गया, सारी गति रुक गई। तूफान में जिस पक्षी का

घोंसला नष्ट-भ्रष्ट हो गया है उसका आश्रय इस समय है पेड़ों-पेड़ों पर, कभी तो वह ससुराल में रहने लगीं, कभी मामा के घर में और कभी इधर-उधर। मामा के घर में ही अधिकतर रहने में इस समय सुविधा थी। सुबह से लेकर रात तक उनको पानी पीने की भी फुर्सत नहीं रहती थी। घर-गृहस्थी का लेखा-जोखा, गोदाम का भार, बाल-बच्चों की देख-रेख, दफ्तर व स्कूल जानेवालों के लिए यथासमय भोजन का प्रबन्ध, नाना की सेवा-टहल—अर्थात् साँस लेने की भी फुर्सत नहीं रहती थी। उनके हाथ में वैद्यक और होमियोपैथी चिकित्सा की भी आदत थी, अनेक लोग दवा-दारू के सम्बन्ध में उनके पास आते। जिस गाँव में वह रहती थीं वहाँ की स्त्रियाँ दोपहर में उनके पास आकर उनसे सिलाई सीखतीं, लिखने-पढ़ने का अभ्यास करतीं। वह उनके कपड़े, शेमिज, फ्रॉक इत्यादि तैयार कर देती थीं। उनके कारण घर में कोई गड़बड़ नहीं रहती थी, घर-द्वार वह साफ-सुथरा रखती थीं। घर में कोई बीमार हो जाय तो उसकी सेवाशुश्रूषा का भार भी उन्हीं के ऊपर आता था। तीज-त्यौहार, पूजा-अर्चना नित्य-नैमित्तिक कार्य—इन सबकी व्यवस्था तथा इनका आयोजन उन्हीं के हाथ में था। ससुराल बीच-बीच में चली जाती थीं, सास उनको स्नेह की दृष्टि से देखती थी, देवर और जेठ उनका सम्मान करते थे, किन्तु वहाँ स्वार्थ की गन्ध जो थी! उनकी इच्छा थी कि रानी उनके घर में रहे ताकि माहवारी रकम उनके हाथ में आती रहे, किन्तु यह छिपी स्वार्थ-परता रानी की नजर से न बच सकी। जिसके द्वारा ससुराल से उनका संबन्ध था उसकी मृत्यु ने एक भारी अन्तर—परदे की सृष्टि कर दी।

'ससुराल में शोषण और ननिहाल में शासन!'—रानी ने कहा—खयाल आता है कि कुछ समय पहले तक मैं विलासप्रिय थी...

मुख की ओर ताकते ही वह हँसकर बोलीं—विधवा का विलास-प्रिय होना भारी अपराध है—है न? किन्तु वह अति सामान्य है, साफ-सुथरे कपड़े पहिनने तथा केशों को सँवारने में प्रसन्नता होना भी कोई अपराध है? फिर भी इसी अपराध में नाना ने एक दिन मुझे बुलाकर जिस समय अपने बालों को बिलकुल कटवा डालने के लिए मुझे बाध्य किया, तीन दिन तक मैं रोती रही—मेरे केश पाँवों तक लम्बे थे। जानती हूँ कि आँसू बहाना बच्चों की-सी कमजोरी है, सर्वस्व त्याग करने से ही विधवा का जीवन उज्ज्वल होता है, यह भी मालूम है, किन्तु...कहते-कहते वह म्लान हँसी हँसने लगीं।

भासी चट्टी पार हो गई है। रास्ता मैदानी है, कहीं-कहीं गाँव के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। पेड़ों की छाया से ढका हुआ चौड़ा रास्ता है, पहाड़ों की चोटियाँ दूर-दूर चली गई हैं। ग्राम्य-प्रान्तर नीरव हैं, सर-सराती हुई वासन्ती वायु बह रही है। रास्ते में अब झरने नहीं दिखाई देते, रामगंगा नदी पास ही है। वृद्धकेदार में दोपहर का भोजन कर फिर आगे चले। आजकल सुख और सौभाग्य दोनों ही मुझे प्राप्त हैं। घोड़े पर चल रहा हूँ, नानी के यहाँ पका-पकाया भात खाता हूँ, बर्तन भी नहीं माँजने पड़ते। जिस दिन दुःख में हरिद्वार से मेरी यात्रा शुरू हुई थी, उस दिन स्वप्न में भी यह ख़याल नहीं था कि इतने आनन्द के साथ मेरी यात्रा पूरी होगी। चारू की माँ और गोपालदा वगैरह एक वेला का रास्ता आगे चले गये हैं, इच्छा होती है कि दौड़कर उनको पकड़ लूँ और अपने सौभाग्य की बात उनको सुना दूँ। गोपालदा के धैर्य और उनकी सहनशीलता से मैं वास्तव में विस्मित और मुग्ध हूँ। किन्तु एक बड़े संकोच की बात है, दिन में नानी और रानी खाना बना देती हैं, चौधरी महाशय भी प्रेम से खिलाते हैं; किन्तु खाने के दाम लेने के लिए किसी तरह राजी नहीं हैं। भोजन करते समय मैं संकुचित हो उठता हूँ। मेरे संकोच को देखकर रानी भी हिचकिचाती हैं। वह इसके लिए बड़ी सजग रहती हैं कि मेरे सम्मान को ठेस न लगने पाये।

सन्ध्या को नल चट्टी पहुँच गये। मनोरम स्थान है। पास ही में केलों का एक वन है, उसी के पूरब में छोटा एक डाकघर है, डाकघर के पास ही धर्मशाला है। कुछ दूर पर एक प्राचीन मन्दिर है, उसी के पास कई संसार-त्यागी साधुओं का आश्रम है। घोड़े से उतरकर हम चट्टी में आये और वहीं रात काटी।

अब वह दुस्तर पथ नहीं है, वह संकीर्ण आकाश नहीं है—पर्वतों के समूह के बीच प्राणान्तकर चढ़ाई-उतराई नहीं है। इस समय आकाश बहुत दूर तक दिखाई देता है, अब नदी भीषण गर्जन नहीं करती, धाराओं का वह अविराम झर-झर शब्द नहीं सुनाई देता—इस समय स्वदेश की ओर काफ़ी आगे आ गये हैं। सुबह जब रानी से भेंट हुई तो वह बोलीं—इस बार हमें थोड़ा अलग-अलग चलना होगा, उन्हें फिर सन्देह हुआ है.. बुआ जासूसी कर रही है। वास्तव में देखिए तो कितनी नीचता है!

मैंने कहा—सभी हमारे आचरण को क्यों मानेंगे?

'चूँकि आप घोड़े पर चलने लगे हैं, इसलिए उन लोगों ने इसके

नाना अर्थ लगाने शुरू किये हैं ; एक काम कीजिए, आप घोड़े पर न चढ़िए, पहले की भाँति पैदल ही चलिए।'

'उससे क्या सुविधा होगी ?'

'सुविधा भले ही न हो, सन्देह तो नष्ट हो जायगा। अब आप घोड़े पर नहीं चढ़ें।'

मैं बोला—अच्छा, ऐसा ही सही।

उन्होंने कहा—एक छोटी-सी बात पर उन्हें संदेह हो गया। रास्ते में खड़े होकर आपने जो दूध मोल लेकर मेरे हाथ में दिया था उसी बात को बुआ ने नमक-मिर्च लगाकर नानी से कहा। सौभाग्य से चौधरी महाशय वहीं थे, उन्होंने कहा, दूध मोल लेकर पिलाना कोई अपराध नहीं है। रास्ते में सभी एक दूसरे के लिए ऐसा करते हैं। चलिए आप आगे, ओह, कहती हूँ जरा जल्दी पाँव बढ़ाइए, वे आ रहे हैं।

एक अजीब बात। मानो एक सांघातिक खेल में हम दोनों जने उन्मत्त हो उठे हों। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि स्त्रियाँ एक-दूसरे के प्रति कितनी सजग रहती हैं, कोई किसी का विश्वास नहीं करती। कहीं की कोई एक थोड़ी जान-पहचान की बुआ ! अपनी संगिनियों की चरित्र-रक्षा के लिए उसको कितनी फ़िक्र है। उसकी धारणा है कि अगर वह न हो तो बंगाल की बहुत-सी स्त्रियाँ चरित्र-भ्रष्टा हो जाएँ। सौभाग्य से वह मौजूद थी !

रामगंगा के किनारे चौखुटिया चट्टी में आकर मैंने यह बात फैला दी कि मेरे कमर में दर्द है, घोड़े पर अब नहीं चढ़ूँगा। रानी मन-ही-मन हँसीं। पत्तों से छाई हुई एक कुटी में खाने-पीने का बन्दोबस्त हुआ। पास ही में एक गाँव है, कई दुकानें हैं—एक लोहार की दुकान में हथौड़ों का कार्य चल रहा है। चट्टी के पीछे नदी के किनारे थोड़ी-थोड़ी खेती-बारी दिखाई दी। आज कई दिनों के बाद नहाने का मौका मिला। आबहवा गरम है। नदी की धारा पतली है, प्रवाहहीन है, जल छिछला है। लेकिन जब दुकान में साबुन मिल गया तब क्या था, नदी के किनारे बैठकर धोती और चादर अलग कर दीं। देखा तो घोड़ा, गाय और मनुष्य पास-पास नहा रहे हैं। धूप काफी तेज हो उठी है; गरम देश की ओर आ गये हैं, जरा-जरा-सी देर में प्यास लग जाती है, परिश्रम करने की शक्ति भी कम हो गई है। थोड़ा रास्ता और रह गया है, दो दिन बाद ही हम रानीखेत पहुँच जायँगे। स्नान

करके लौटकर देखता हूँ तो पीने के पानी का भारी अभाव है। मालूम हुआ कि कुछ दूर पर जमीन के अन्दर एक सूखे-से झरने में से जल टपकता है। बाल्टी लेकर धूप में चल पड़ा। उस दिन, जिस यत्न से जल-चिह्न-हीन सूखी नदी के पत्थर के नीचे से पीने का जल इकट्ठा कर लाया, वह बात आज भी मुझे खूब याद है। दोनों हाथों से दोनों बाल्टियाँ भरी हुई लाकर सबको खुश कर दिया। भोजन के बाद दिन में सो गये। दिवानिद्रा के रूप में ही हम नवीन उद्यम का संचय करते हैं।

सोने के बाद माल-असबाब बाँधकर यात्रा की तैयारी प्रारम्भ हुई। घोड़े पर चढ़ने का नशा खत्म हो चुका है, अतएव घोड़े की पीठ पर झोला-कम्बल रखकर एक वृद्धा को उसपर चढ़ा दिया, वृद्धा सिकुड़कर बैठ गई, उस समय अपराह्न हो चुका था। निकट में ही रामगंगा का पुल; पुल पार होकर दक्षिण दिशा की ओर हम चले। समतल रास्ता है, दोनों ओर देवदार के वृक्ष हैं, खजूर और आम के पेड़ों के जंगल हैं, बाईं ओर बहुत दूर तक पहाड़ों की समतलभूमि (पठारों) पर खेत हैं। हम सभी एक साथ चल रहे हैं, रानी को एकान्त में पाने का इस समय कोई मौका नहीं मिला। आज जान-बूझकर पीछे-पीछे चल रहा हूँ। चौधरी महाशय भी पास-पास चल रहे हैं। बुआ बाक़ायदा पहरा देती हुई नानी और अन्य संगिनियों के साथ चल रही है। रानी की ओर उसकी कड़ी नज़र है।

किन्तु विधि की दया। देखते-देखते आकाश का चेहरा बदल गया। चारों ओर से काली-काली घटाएँ घिर आईं। पेड़ों के सिरों पर तूफ़ानी हवा सरसराने लगी और फिर थोड़ी ही देर में मूसलाधार वर्षा होने लगी। पहाड़ों पर बारिश बहुत कष्टदायक होती है, जल की बूँदें तीव्र और तीक्ष्ण होती हैं। सब घबरा गये और किसने कहाँ आश्रय लिया इसका ठीक पता नहीं। किन्तु आश्रय ही कहाँ? भीगते-भीगते तेज चलने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। कइयों के पास आइल-क्लाथ (मोमजामे) की बसांतियाँ थीं—साधारणतः इसी को ढककर इस देश में काँडीवाले यात्रियों का माल-असबाब ले जाते हैं—उसी कपड़े का टुकड़ा सिर पर रखकर नानी और दो-एक जन और चलने लगे। रानी को भी उन्होंने आइल-क्लाथ के एक टुकड़े से ढक दिया, घोड़े की पीठ पर एक किम्भूत किमाकार चेहरा लेकर वह चलीं। मैं पीछे से हँस पड़ा।

तूफ़ान। तूफ़ान और बारिश। वृष्टि और वज्रपात। पेड़-पौदे पागल की भाँति उन्मत्त हो उठे, बारिश के जोर से चारों ओर पृथ्वी प्लावित हो उठी। दौड़ते-दौड़ते कौन न जाने कहाँ चला गया, चौधरी महाशय तक का पता नहीं। उस दुर्योग और मूसलाधार बारिश में रानी ने घोड़े की लगाम खींचकर उसकी चाल मन्द कर दी। नज़र बचाकर चुपचाप चला जा रहा था कि उन्होंने पुकारकर कहा—रुको, अब भागना नहीं, क्या अब भी कुछ और भीगना है आपको! न छाता है, न ओढ़ने को कपड़ा है—आपका संन्यासीपन देखकर बदन में आग लग जाती है।

'आप तो बहुत मजे में चल रही हैं।' मुख फेरकर मैंने कहा।

'आप मजे में चलने ही कहाँ देते हैं? इच्छा होती है कि मैं भी आपके साथ भीगते-भीगते चलूँ। कहिए, देखा न? कैसे हैं वे? दूसरे के लिए जिनको अधिक चिन्ता रहती है, वे ही विपत्ति के समय अपनी जान बचाकर भाग गये। वास्तव में, आपके इतने स्वच्छ, साबुन से धोए हुए कपड़ों की क्या दशा हो गई; देखिए तो! दूसरे कपड़े तो होंगे नहीं, दानी कर्ण की भाँति सब तो दान कर आये कर्णप्रयाग में, अब ये सब आप किस प्रकार सुखायेंगे? चादर भी तो गई!'

मैं बोला—शरीर पर ही सूख जायँगे।

बारिश के झोंके से हम परेशान हो रहे थे। आँखों पर, मुख पर, सारे शरीर पर जल था। मुँह पानी से तर-बतर था, माथा सिकोड़कर वह बोलीं—शरीर पर ही! आप की बात सुनकर बदन में आग लग जाती है। बीमार पड़ गये तो देखने-भालनेवाला यहाँ कौन है?

'क्यों, आप?'—हँसकर मैंने कहा—ऐसा हो जाय तो निश्चय ही सोलह कला-पूर्ण हो जायँ।—एकाएक रास्ते की ओर देखकर घोड़े को चाबुक मारकर उन्होंने तेजी से दौड़ा दिया।

पहाड़ी देश की वृष्टि, देखते-देखते फिर आकाश हलका हो गया। शून्य मन से धीरे-धीरे चल रहा था। वृष्टि मन्द हो गई, तूफ़ान रुक गया, आकाश साफ हो गया, रास्ते में एक पुल पार कर दक्षिण की ओर चले। देखते-देखते शेष अपराह्न की म्लान धूप फिर एक निर्लज्ज की भाँति प्रकट हो गई। और दो मील चलकर हम साँझ को एक धर्मशाला के पास आ पहुँचे। स्थानीय कई हिन्दी-भाषी सम्मान्य जन एक दुकान के पास बैठकर बातचीत कर रहे थे। बंगालियों की मंडली देखकर वे आगे चलकर बातचीत करने लगे। सामने की धर्मशाला को रहने के लिए उपयुक्त न बताकर उन्होंने स्कूल के कमरे में हमारे

रहने की व्यवस्था कर दी। स्कूल को देखते ही यह समझ में आ गया कि इसके आस-पास गाँव हैं। पंडितजी आये, साथ में कई विद्यार्थी भी। आकर उन्होंने देश के संबन्ध में नाना प्रश्न पूछने प्रारंभ कर दिये— कांग्रेस की कैसी अवस्था है, महात्माजी कब रिहा होंगे, धर-पकड़ अभी भी हो रही है या नहीं, इन प्रश्नों के द्वारा उनकी उत्सुकता और उनका उत्साह भाँपकर मैं विस्मित हो उठा। सुनने में आया कि अल्मोड़ा से समय-समय पर उन्हें देश की खबरें मिलती हैं।

स्कूल के कमरे के बरामदे में हमारा डेरा जमा। बरामदे में फूलों के कई पेड़ थे; पास ही में लड़कों के खेलने के लिए थोड़ी खुली जमीन थी, पश्चिम की ओर लकड़ी का एक कारखाना था। बरामदे के एक ओर हम चौदह यात्रियों ने आश्रय लिया। बारिश से सब कपड़े-लत्ते व बिस्तर भीग चुके थे। खैर, सौभाग्य से रास्ते में हवा से थोड़ा उन्हें सुखा लिया था। संध्या का अन्धकार घना हो गया, दो-तीन हरीकेन लालटेनें जला ली गईं। यात्रियों की भीड़ में रानी और नानी व्यस्त रहीं। आज कई दिनों बाद झोली के अन्दर से कागज और कलम निकालकर नोट लिखने बैठा। कितना रास्ता, कितनी घटनाएँ, कितनी स्मृति। जीवन की बाहरी कथा लिखी जा सकती है, किन्तु उसकी महत्त्वपूर्ण घड़ियों के दुःख और आनन्द को भाषा द्वारा प्रकट करना कठिन कार्य है। कलम लेकर बरामदे में एक एकान्त जगह पर बैठ तो गया, लेकिन समझ में नहीं आया कि क्या लिखूँ। लिखकर प्रकट ही कितना किया जा सकता है! संध्या तो बीत चुकी, किन्तु एक पंक्ति भी नोट न कर सका। इस वक्त मुझे भोजन बनाना है, चौधरी महाशय मेरा पकाया खायँगे। बरामदे के पार आते समय आज संध्या को फिर वही चमत्कारपूर्ण दृश्य देखा। जप समाप्त कर निर्वाक् दृष्टि से देखती हुई रानी बैठी हैं, हाथ में उनके वही रुद्राक्ष की माला है। लालटेन के प्रकाश में मेरी ओर देखा—प्रसन्नतापूर्ण बड़ी आँखें, स्वप्न और तन्द्रा से अभिभूत आँखें, अर्द्ध-निमीलित। जिस रानी को देखा है सारे पथ में, जिसको देखा है घोड़े की पीठ पर, जिसके कलहास्य, कल-कंठ तथा प्राण-चांचल्य से सारा पथ चकित और मुखर हो उठा— वही मायामयी योगिनी यह नहीं है, यह तो उसकी एक आमूल परिवर्तित प्रतिकृति है। वह ऐसी बेसुध थी कि मानो उसकी आत्मा देह को अतिक्रम कर कहीं दूर चली गई हो, रानी ने मुझको नहीं पहचाना। आँखों से आँखें मिलाये हुए खड़ा था, किन्तु मेरा सिर शर्म से झुक

गया, मुख फेरकर उस पार जाकर नानी से बोला—आपके लिए कुछ लाना है ?

नानी बोलीं—हाँ भाई, लाना है, दुकान में हैं भूँजे चने और पेड़े। उन्हीं को ले आओ—ये नौ पैसे हैं, पेड़े ही यहाँ भाग्य में लिखे हैं।

कुछ देर बाद पेड़े और भूँजे हुए चने लाकर खड़े होते ही रानी ने कहा—मेरे हाथ में दीजिए, नानी जप कर रही हैं।

उन्हीं के हाथ में दे दिये। उन्होंने हँसकर कहा—मेनी थैंक्स!

दूसरे दिन आठ बजे। द्वाराहाट का छोटा पहाड़ी शहर पार हो गया है। दो रास्ते दो तरफ़ को गये हैं, एक अल्मोड़ा की ओर और दूसरा रानीखेत में जाकर मिलता है। रानीखेत का रास्ता पकड़ा, पास ही में भैरव का एक पुराना मन्दिर है। मन्दिर के पीछे विस्तीर्ण प्रान्तर, उसी की असमतल गोद में पहाड़ी गाँव है। रास्ता धीरे-धीरे नीचे को उतरा। इतने दिनों के बाद फिर श्रमिक नर-नारी मिले हैं। किसी के सिर पर घास है, किसी के सिर पर लकड़ी का गट्ठा और किसी के सिर पर गेहूँ का बोझ; कोई घोड़े की पीठ पर माल-असबाब रखकर जा रहा है। हमारे दल में कुल पाँच घोड़े हैं। चार की पीठ पर यात्री हैं, एक की पीठ पर माल-असबाब है। एक क़तार में घोड़े खट-खट करते, रास्ते में धूल उड़ाते चले जा रहे हैं। घोड़ों का जैसा साज-सरंजाम है और उनके ऊपर वृद्धाएँ जिस हास्यास्पद ढङ्ग से बैठी हुई हैं, उससे यह जान पड़ता है कि घोड़े पर चढ़ने के समान और कोई लज्जाजनक बात नहीं है। वृद्धाओं की ओर देखकर रानी की हँसी बन्द ही नहीं होती।

आज धूप तेज है, गरमी से सभी परेशान हैं। क्षण-क्षण में गला सूख जाता है; झरने भी नहीं, जलाशय भी नहीं। जल का कहीं नामो-निशान नहीं! कल से ही बाक़ायदा पानी की तकलीफ़ शुरू हुई है। रूखे-सूखे, पेड़-पौदे-हीन पहाड़ हैं, छाया कहीं भी नहीं। धूल भरी गरम हवा के झोंकों से चारों ओर अन्धकार हो गया है।

पानी, पानी; पानी के बिना हम बहुत कष्ट पा रहे हैं। सब पीड़ाएँ सही हैं, किन्तु पानी की तकलीफ़ यह पहली है। यदि कोई एक घड़ा पानी दे दे तो अनायास ही इस झोले-कम्बल को उसको दे सकता हूँ। चातक की तरह भारी प्यास के कारण जल के लिए चारों ओर देखते हैं, किन्तु कहीं भी जल नहीं। दस मील तक यह जल-कष्ट है।

करीब बारह बजे के समय एक दुमंजिली चट्टी में चले आये। यहाँ से दूर पहाड़ की चोटी पर रानीखेत का अस्पष्ट शहर दिखाई देता है।

चट्टी में पहुँचते ही जल के लिए दौड़ पड़ा। पास ही में कुछ खेत थे, उन्हीं में से होकर झरने की एक धारा बह रही थी। किन्तु थोड़ा विश्राम लिये बिना नहीं चला जा सकता। एक दुकान की दूसरी मंजिल में भीतर जाकर बैठ गया—चलने की बिलकुल ताकत नहीं। केवल दो-चार जन आ पाये हैं, नानी, चौधरी महाशय वगैरह कई लोग नहीं आये। मालूम होता है कि रानी ने पास बैठकर मेरी यह हालत देख ली थी, सब चुप थे। इस समय फर्श पर बिखरी अटरम-शटरम चीजों में से कुछ चीज चमकती-सी दिखाई दी, उठाकर देखा तो छोटा एक ताम्बे का पतला टुकड़ा, उसके ऊपर लक्ष्मी के दो चरण खुदे हुए थे। उसी समय उठकर मुफ्त में उसे मैंने रानी को भेंट कर दिया। लक्ष्मी के चरण-चिह्न देखकर उन्होंने सादर उसे लेकर पास में रख लिया। साधारण हो गया असाधारण।

बहुत कठिनता से जल-संग्रह कर प्यास बुझाई। नानी आई, उसके साथ आईं विजया दीदी रोते-रोते। क्या माजरा है? देखा तो उनके पैरों के तले बिवाई फटने से अत्यन्त पीड़ा हो रही है, अब वह चलने में असमर्थ हैं। सब झाड़-फूँक और जड़ी-बूटियाँ व्यर्थ हुईं। विजया दीदी पूर्वी बंगला भाषा में विलाप करने लगीं। खाने-पीने का बन्दोबस्त होने लगा।

फिर यात्रा। विजया दीदी की अवस्था देखकर रानी ने अपना घोड़ा उन्हें दे दिया। अतएव आज रानी की पहली पैदल यात्रा है। पाँवों की व्यथा उनकी सामान्य ही है, इतना रास्ता किसी तरह चली जायेंगी। एक दिन उन्होंने पाँवों में एक जोड़ा चप्पल पहनी थी, आज फिर पाँवों में कैनवेस का सफेद जूता पहना। इस बार रास्ते में थोड़ी-थोड़ी उतराई है, इसलिए चलने में कोई कष्ट नहीं। आज सुबह से ही बातचीत करने को एक बार भी मौका नहीं मिला है, दायें-बायें सतर्क आँखें हैं, बुआ चुपचाप पहरा दे रही है। इस समय शासन नहीं, केवल सतर्कता है। रानी भी उसी तरह की स्त्री हैं, मानो कहीं कुछ गोपन नहीं, इस भाव से बातचीत करते-करते साथियों के साथ चल रही हैं, मेरी ओर ताकने की भी उन्हें फ़ुर्सत नहीं। सब समझ गया। मैं भी अखण्ड उदासीनता का पालन कर आगे-आगे चल रहा हूँ, रानी को मानो पहिचानता ही नहीं। रानी कौन हैं?

गाँव में से होकर टूटा-फूटा, टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता जाता है, उसी रास्ते में जीर्ण लकड़ी का एक पुल पार कर हम ठीक चार बजे गगास पहुँच

गये। गगास एक जलाशय के किनारे छोटा-सा एक पहाड़ी शहर है। हममें से कई-एकों को पैदल चलते देखकर स्थानीय कई लोगों ने घोड़े लाकर हमारे सामने हाजिर कर दिये। घोड़ा देखते ही रानी लँगड़ी होकर बैठ गईं। कहने लगीं—इतना तो चली हूँ, समझी नानी, लेकिन फिर वही पीड़ा...सच, न मालूम क्या हो गया मुझको!

अतएव इस बार उन्होंने सफेद रंग का एक मजबूत घोड़ा किराये पर ले लिया। रानीखेत तक का भाड़ा कुल एक रुपया तय हुआ। साथ में एक छोकरा साईस चलेगा। इस बार बहुत अच्छा सवारी का घोड़ा था। मुझको इशारे से आगे चलने के लिए कहकर वह घोड़े पर चढ़ीं।

फिर सामने एक बड़ी चढ़ाई आई। पहले तो डर गया। किन्तु यही अन्तिम चढ़ाई है, अन्तिम पहाड़ है, यह यदि किसी तरह पार हो जाय तो हमारी मुक्ति निश्चित है। इस बार अब हम पथ के पंजे से मुक्त हो जायँगे, इस खयाल से बड़ा आनन्द मिल रहा है। पथ हमें इस बार विदा दे देगा, इस बात को सोचते ही वेदना होती है। किन्तु क्यों?...आनन्द-वेदना की लहरों पर इस तरह झूलना क्यों अच्छा लगता है? क्या पाया है?

केवल छः मील सामान्य पथ रह गया है। कुछ दूर आगे चलकर दिखाई दिया कि यदि थोड़ा अधिक परिश्रम कर सीधा चढ़ा जाय तो रास्ता बहुत कुछ शॉर्ट-कट हो जाता है। यही किया, भारी ताकत से, बेपरवाह होकर, जिस तरह चींटी दीवार को पार कर जाती है उसी तरह करीब आध घण्टे की मेहनत के बाद खड़े पहाड़ की चोटी पर जा पहुँचा। अन्य यात्री जो इस रास्ते के इतिहास से अपरिचित हैं, बहुत पीछे पड़े रह गये। इसका नाम है कौशल से रास्ता चुराना। जिनकी यह धारणा है कि मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ, वे कुछ देर बाद देखेंगे कि मैं ही सबसे आगे हूँ। रास्ते की धार पर एक बड़े पत्थर के ऊपर खड़ा होकर कुछ देर विश्राम लिया। जो कुछ सोचा था वही हुआ, रानी का सफेद रंग का वह तेज घोड़ा दौड़ते-दौड़ते आ रहा है। कन्धे पर मेरे एक लाल रंग का गमछा था, उसको ऊपर-नीचे हिलाते हुए रानी ने देख लिया। लाल-झंडी का सिगनल! घोड़े को और तेज दौड़ाकर वह पास आ गईं। पहले ही हँसते-हँसते बोलीं—इस बार वे खूब ठगे गये हैं—उनका खयाल है कि आप बहुत पीछे हैं। ओह, अभी भी हाँफ रहे हैं! किन्तु खड़े होने से काम नहीं बनेगा, चलिए। देखते हैं, कितना अच्छा घोड़ा मिला है इस बार? इच्छा होती है कि इसे घर ले चलूँ।

निःश्वास फेंककर वह फिर बोलीं—रास्ते के आखिरी भाग में बहुत आनन्द मिला है, सदा याद रहेगा।

चलते-चलते उन्होंने फिर कहा—पाँवों में जरा भी तकलीफ नहीं, सहज ही में इतना रास्ता चली चलती, किन्तु ऐसा करने से आपके साथ बातचीत न हो सकती...भाग्य से घोड़ा मिल गया!

अपराह्न की धूप मन्द हो गई है। चीड़ के पेड़ों के घने जंगल के भीतर उनका घोड़ा चल रहा है। चारों ओर एक प्रशान्त नीरवता है। समय-समय पर वायु के झोंके लग रहे हैं—उस वायु में जंगल का मर्मर शब्द नहीं है, चीड़ के वन का दीर्घ निःश्वास है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो हमारे अर्थहीन तथा अस्थायी बन्धुत्व की ओर देखकर काल का देवता करुण निःश्वास फेंक रहा हो। आज सुबह से क्षण-क्षण में विदाई का स्वर ध्वनित हो रहा है। हमने एक-दूसरे के हृदय को स्पर्श किया है, उसको विच्छिन्न करने का समय आ गया है। सहज में ही हम मिले थे, सहज रूप से ही बिछुड़ने की चेष्टा में हैं। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि हमारे बीच में एक सुस्पष्ट ममत्व पैदा हो गया है, विदाई के समीप होने का विचार ही उसपर आघात कर रहा है। हमें ज्ञात है कि हमारे इस परिचय को इतना अधिक दृढ़ किया है उन्हीं उत्तुंग पर्वत-मालाओं ने, नदियों ने, उन्हीं वन-जंगलों ने—यह अनन्त विश्व-प्रकृति की पटभूमि न होती तो हम एक-दूसरे को इस तरह एकान्त में नहीं पहिचान पाते। उन्होंने मृदु कंठ से कहा—आपके लिए मैंने बहुत चोरी की, किन्तु उसके कारण मेरे मन में कोई ग्लानि नहीं। आपके साथ यात्रा के कुछ अन्तिम दिन जो मैंने बिताये हैं वे मेरी जप की माला में रुद्राक्ष की तरह गुँथे रहेंगे।

सनोवर के पेड़ों के वन से सूर्यास्त की रक्तिम आभा दिखाई दे रही है। कहीं-कहीं पेड़ों पर वन-पक्षियों का कलरव सुनाई दे रहा है, इस पार पहाड़ों के शिखर पर दिनान्त की क्लान्त धूप लाल हो उठी है। उन्होंने फिर कहा—शायद जीवन में फिर दुबारा आपसे भेंट न हो, किन्तु उसके लिए मुझे दुःख नहीं है। मैं अपनी सब बातों को निःसंकोच रूप से प्रकट कर सकी हूँ, इसके लिए मुझे खुशी है—हाँ, भ्रमण-कहानी क्या आप लिखेंगे? किस पत्र में?

मैंने कहा—यदि लिखूँगा तो "भारतवर्ष" में ही लिखूँगा।

'अच्छा ही होगा, मैं "भारतवर्ष" की ग्राहक हूँ। किन्तु देखना सावधान...'

दो मिनट चुप रहकर वह फिर बोलीं—आपसे अनुरोध है कि मेरे जीवन की सारी कथा आप प्रकाशित कर दें। आपके लेखों से यह जान सकूँगी कि मैं क्या हूँ।

हँसकर मैंने उत्तर दिया—सब बातें ही कम कर दूँगा, लिखूँगा सामान्य ही।

उन्होंने कहा—मेरा विश्वास है कि सुन्दर रूप में कहने से सब कुछ कहा जाता है। आप सुन्दर रूप में लिखेंगे; केवल मेरी कथा ही नहीं, अन्य लेख भी। आप की सब रचनाओं द्वारा एक महान जीवन को स्पर्श करने का-सा अनुभव होता है—उसके भीतर रहती है अनन्त प्रीति और समता।

विस्मित होकर उनकी वाणी सुनता चला जा रहा हूँ। यह भी उनकी एक अभिनव मूर्ति है। वह कहने लगीं—अन्याय और असत्य को मैं क्षमा नहीं करती; समस्त सामाजिक मिथ्याचार, निर्लज्ज बर्बरता, मनुष्य की कुटिलता और अपमान—मेरी रचना में इनके विरुद्ध मानो सर्वनाशकारी ध्वंस का कठोर स्वर ध्वनित होता है। जो वंचित हो गये हैं, अन्याय के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकने से जिनका सिर झुक गया है, शतकोटि बन्धनों से जकड़े रहने के कारण जो साँस नहीं ले पाते—मेरे साहित्य में मानो उन्हीं की आत्मा की भाषा बोल उठती है। मेरी कहानियों में जो पात्र आते-जाते हैं वे मानो सब विरोध और असत्य से मुक्ति पा जाते हैं, सब मिथ्या और सब प्रकार की लज्जा से वे मानो महत्तर जीवन की ओर बढ़ पाते हैं।

'बंगला पुस्तक तथा पत्र मैं नियमित रूप से पढ़ती हूँ।' उन्होंने कहना प्रारंभ किया—रात में जब सब सो जाते हैं उस समय मैं जागती हूँ। किन्तु पढ़ने से हँसी ही आती है। आजकल के साहित्य तथा समाचार-पत्रों में अन्तर नहीं। लेखों के भीतर से मैं देखती हूँ लेखकों को। उनका कैसा संकीर्ण जीवन है, कैसी स्थूल दृष्टि है! परिश्रम होता है, किन्तु साधना नहीं होती। अपने मनोभावों के साथ फिट कर अपनी खुशी के मुताबिक वे स्त्री-पुरुषों का चरित्र-चित्रण करते हैं, इसी से वे कठपुतलियों-से हो जाते हैं। इनको पढ़ने से हँसी आती है। किन्तु क्रोध तो उस समय आता है जब कि यह देखती हूँ कि इन्हीं बातों को लेकर अक्षम्य लेखकगण नाना प्रकार की कसरत तथा दाँव-पेंच दिखाते हैं। जीवन में प्रेम और वीर्य का अस्वाभाविक अभाव उनको दिखाई नहीं पड़ता और यही उनके साहित्य में दुर्बल लालसा के इतिहास—

मारबिड मन की कुत्सित अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हो जाता है।'

कमलिनी जिस प्रकार धीरे-धीरे एक-एक दल को खोलकर अन्त में पूर्ण रूप से विकसित हो उठती है, इस नारी का परिचय भी उसी प्रकार मिला। अवश्य सब बातें उसने इस तरह गूँथकर उस दिन नहीं कहीं, कुछ प्रकाश में लाईं और कुछ अप्रकाशित ही रखीं; किन्तु यही था उनका मूल वक्तव्य।

चार मील रास्ता और चलकर संध्या के समय हमने रास्ते की आखिरी चट्टी में आकर शेष रात्रि के लिए आश्रय लिया। दूर पूर्व दिशा में रानीखेत शहर की कई रोशनियाँ यहाँ से दिखाई देती हैं; कल सुबह वहाँ पहुँचेंगे। अगल-बगल दो पक्के घर हैं—रहने के लिए ऐसे स्थान हमें निश्चय ही कम मिले हैं, घर में खाने-पीने के सामान की एक दुकान है। दुकान में रात्रि के भोजन का प्रबन्ध हुआ। थोड़ी देर बाद ही चौधरी महाशय और नानी वगैरह समारोह के साथ उपस्थित हुए। आते ही किसी एक बात पर नानी और चट्टीवाले के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ, नानी बदमिज़ाज औरत थीं—क्रोधित होकर सब चीज़ें और संगी-साथी लेकर पास के घर में चली गईं। मैं एक चौकी पर यहीं पड़ा रहा। आकाश के तारों की ओर देखकर रानी की कही हुई शेष बातों पर विचार कर रहा था। शुक्ल पक्ष का क्षीण चन्द्र उस समय पहाड़ों के पश्चिम की ओर अस्त हो गया था। किन्तु मेरे मन में कहाँ बात जमी है और कहाँ व्यथा हो रही है?

दूसरे दिन सुबह उदय होते हुए सूर्य के प्रकाश में, चीड़ और सनोवर के वनों में टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जासूस बुआ की नजरों से बचकर, गिद्धों से घिरे हुए एक श्मशान से चुपचाप खिसककर, चौधरी महाशय के साथ बात-चीत करते-करते,—इतने दिनों के बाद रानीखेत के प्रकांड शहर की सीमा में आ पहुँचे। पास ही में गोरे सैनिकों की एक छावनी है, उसके पास सरकारी दफ्तर, क्लब, बोर्डिंग हाउस, डाकबँगला तथा सैनेटोरियम हैं—शहर का विविध प्रकार का साज-सामान है। चारों ओर एक बार शून्य दृष्टि से देखकर घोड़ा छोड़कर रानी बैठ गईं। मालूम होता था कि इस सुबह भी वह थकी ही हैं, बहुत थकी हुई हैं। निराशा, अवसाद तथा कारुण्य से उनकी आँखें ढँकी दिखाई दीं। उनको पीछे छोड़कर आगे चला गया। रास्ते पर मुड़ते ही असंख्य दुकानें, बाजार, होटल, घर, फेरीवाले तथा अनगिनत लोग आते-जाते नजर आये; उस ओर कई मोटर बसें दिखाई दीं। अवाक् होकर

मोटरों को देखता रहा। मोटर के पहियों की ओर देखकर द्रुतगति के आनन्द में उल्लसित हो उठा। भूल गया हूँ यन्त्र-सभ्यता की बात—सबसे विच्छेद हो गया है, अनात्मीयता हो गई है। सभ्यता, सौजन्य और सामाजिकता की केंचुली फिर पहननी पड़ेगी।

पहले ही उठकर चाय की दुकान में चल दिया। जिस निःशब्द नीरवता को दीर्घ काल के बाद अतिक्रम किया है उसके साथ वर्तमान स्थिति का कितना भेद है। लोहा-लक्कड़ की कटकट-खटखट, कुत्ते और मुर्गे की आवाजें, गिर्जे के घण्टे का बजना, गोरा-छावनी में बैग पाइप की ध्वनि, दुकानदारों का हो-हल्ला, मोटर की आवाज़, राहगीरों का उच्छृंखल आलाप, हँसी-मजाक, भोंपू की आवाज—बिलकुल विभ्रान्त हो उठा। इनके साथ आज हमारी कोई संगति नहीं, हम मानो नये देश के मनुष्य हैं, वन्य और पार्वत्य प्रकृति हमारी है, हमारा आचार-व्यवहार संपूर्ण रूप से स्वतंत्र है, हमारी चाल-ढाल बिलकुल भिन्न है—इसी नागरिक सभ्यता के आईने में अपना प्रतिबिंबित चेहरा देखकर हम विस्मय और संकोच के खुद ही अलग चले गये। हमारी पोशाक में, हाव-भाव में, आचार-व्यवहार में, भाव-भंगी में मानो हिमालय की वन्य प्रकृति ने डेरा जमा लिया है; एक-दूसरे की ओर देखकर हम सब चुप हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आदिम युग के हम सभ्यता-लेशहीन मनुष्य एकाएक तथाकथित सभ्यता के कोलाहल में आ पड़े हैं—निर्जन हिमालय के गह्वर की ओर भाग पड़ने की हमारी फिर इच्छा होती है।

हम चौदह जन हैं। प्रत्येक यात्री पीछे दो रुपया देकर यहाँ से एकावन मील दूर हल्द्वानी स्टेशन तक मोटर बस ठहराई गई। करीब आठ बजे गाड़ी छूटी। बाईं ओर यहाँ से एक रास्ता अल्मोड़ा की ओर चला गया है; अल्मोड़ा से भिकियासैण को। हमारी गाड़ी काठगोदाम को चली। पहाड़ से धीरे-धीरे उतर रहे हैं, खूब पक्का रास्ता है, एक ओर पत्थरों की बड़ी दीवार है, बहुत नीचे एक नदी बहती है, उस पार जंगल है—जंगल में कहीं-कहीं झरने प्रवाहित हो रहे हैं। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है। एक गोल भँवर की तरह घूम-घूमकर मोटर नीचे उतर रही है, कहीं झकझोरती है और कहीं झूले की तरह जोर से हिला देती है।

अद्भुत लग रही है यह गति, यह तेजी; मालूम होता है कि हमारे पाँव ही मोटर के पहिये हैं, हम ही दौड़ रहे हैं—ऐसा ज्ञात होता है कि थकावट नहीं है, उदासीनता नहीं है। हमारे मन में, हमारे विचारों में,

हमारे चरित्र में मानो वही अनन्त पथ है—पथ ही पथ है। गाड़ी के भीतर बैठकर भी हम चल रहे हैं—केवल चल रहे हैं। हमारे पाँव रुक नहीं गये हैं। वृद्धाओं ने मोटर के भीतर से कै करना शुरू कर दिया—वे मोटर-यात्रा को सह कैसे सकती हैं? उनके शरीर पर इस यन्त्रयान के संघात का बुरा असर पड़ा है। रानी पीछे की सीट में बैठी हैं, मेरी बाईं ओर चौधरी महाशय हैं। गाड़ी बहुत छोटी है, ठसाठस उसमें सब लोग भरे पड़े हैं। किसी के शरीर पर किसी का हाथ है, किसी के पाँवों में किसी का पाँव फँसा हुआ है—एक बार अपना पाँव खुजलाने के लिए हाथ बढ़ाया तो किसी के हाथ को थपथपा बैठा। भीड़ के बीच में अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना कठिन है।

करीब साढ़े दस बजे हल्द्वानी स्टेशन आ पहुँचे। अन्तिम जेठ की प्रखर धूप में चारों दिशाएँ धाँय-धाँय कर रही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ठंढे देश में से उठाकर हमें अग्नि-कुण्ड में झोंक दिया गया हो, ग्रीष्म की दोपहरी की प्रचंड आग की लपटों से सारा शरीर झुलस-सा गया। ऊँचे से एकाएक नीचे इस गरम देश में उतरने से साँस रुक-सी जाती है, हाँफते हुए बार-बार निःश्वास लेने लगे। रानी बिलकुल मौन हैं, हिमालय को छोड़ने के बाद उनका दिल न जाने कहाँ टूट गया है। जब तक कोई बड़ी आवश्यकता ही नहीं आ जाती तब तक वह नहीं बोलती हैं; एक दुकान में एक चौकी के ऊपर वह उदासीन हो बैठी रहीं। माल-असबाब लेकर हम थर्ड क्लास के मुसाफिरखाने में आ गये और उस वक्त वहीं आराम किया। भारी निःश्वास के कष्ट से शरीर की हालत खराब दिखाई देती है।

रानी ने मानो मन्त्र-बल से मेरी अवस्था जान ली। एक बार एकांत पाकर मेरे सिर पर स्नेह से हाथ फेरकर, जिस तरह मा उद्वेलित आकुलता पूर्वक अपने शिशु से उसकी कुशल पूछती है, उसी तरह कोमल कंठ से वह बोलीं—ओह, मुख यह कैसा हो गया है? मालूम होता है कि तबियत अच्छी नहीं है।

मैंने उत्तर दिया—साँस लेने में कष्ट मालूम होता है।

उन्होंने घबराकर कहा—ओह, तब जान पड़ता है कि हार्ट पैलपिटेशन है। मेरे पास दवा है। आप जाकर चौधरी महाशय से कहिए। मैं अभी दवा निकाल दूँगी।

दवा खाने के बाद शरीर स्वस्थ हो गया। चौधरी महाशय चुपचाप पड़े रहे। मैं भी पड़ा रहा। दिन में तो कोई गाड़ी थी नहीं; अतएव

दिन भर आराम कर शाम को छः बजे की गाड़ी में चढ़े। बालामऊ का टिकट कटाया है, नैमिषारण्य होकर जाने की इच्छा है। सब बंगा-लियों ने मिलकर रेल के एक कमरे पर अधिकार कर लिया है। गाड़ी तो छोटी ही है; लेकिन बड़े जोर से छक-छक आवाज करते चल रही है। ग्रीष्मकाल का लम्बा दिन समाप्त हो गया, प्रान्तर के उस पार सूर्य-देव अस्ताचल को चले गये, थकी आँखों में नींद आने लगी, दूर की पर्वत-मालाएँ धीरे-धीरे विलीन हो गईं। नानी, रानी तथा चौधरी महाशय चलती हुई गाड़ी में ही अपने जप में ध्यान लगाकर बैठ गये।

रात के साढ़े नौ बजे के समय सबने बरेली स्टेशन में गाड़ी बदली और काशीवाली गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी में खूब भीड़ थी और बेहद गर्मी। अनेक प्रयत्न करने पर भी कहीं ठंढा जल नहीं मिला, सभी प्यास से छटपटाकर निराश होकर बैठ रहे। थकावट, मेहनत और गरमी की अधिकता से सभी मृतप्राय हो गये थे, गाड़ी के चलने के कारण झकझोरों से सभी सहज में ऊँघने लगे। और कहीं कोई चूँ भी नहीं कर रहा है। खिड़की के पास सिर झुकाकर रानी भी ऊँघने लगीं। मैं ऊपर सीट में चला गया।

ठीक समय पर एकाएक नींद टूट गई। रात के ढाई बज गये हैं। सभी घोर निद्रा में अचेत पड़े हैं। नीचे उतरकर देखता हूँ तो सजग दृष्टि से देखती हुई रानी बैठी हैं। उनकी आँखों में नींद नहीं, मानो नींद कभी थी ही नहीं। बाहर अन्धकार की ओर देखते हुए पत्थर की मूर्ति की तरह बैठी थीं।

मैंने कहा—क्या बालामऊ पार हो गया है? रानी आँखें उठाकर कुछ देर तक मेरी ओर देखती रहीं, उसके बाद मृदु कण्ठ से बोलीं—यदि पार भी हो गया है तो उससे क्या, बालामऊ में आप नहीं उतरेंगे।

'क्यों?'

निद्रित नानी की ओर देखकर वह धमकाकर बोलीं—घर नहीं लौटोगे? काशी से आये हैं, काशी ही चलिए। और तीर्थ-भ्रमण की जरूरत नहीं है, पर्याप्त तीर्थ-यात्रा हो चुकी है।

मैंने कहा—किन्तु मेरा टिकट तो बालामऊ का ही है।

उन्होंने उत्तर दिया—रास्ते में बदल लीजिए।

चुप बैठा रहा। वह मानो फिर चिन्ता-सागर में डूब गईं। किन्तु थोड़ी देर ही के लिए, उसके बाद ही मेरी ओर उज्ज्वल चक्षुओं से देखकर बोलीं—इससे ही क्या? यह भी तो मिथ्या है, अर्थ-हीन है! आप

क्या कुछ विश्वास करते हैं ? इस लोक में, परलोक में, पुनर्जन्म में ?

उनके प्रश्नों का उत्तर देना संभव नहीं था। द्रुतगामी ट्रेन के बाहर घनी अँधेरी रात भी उनके प्रश्नों के प्रति निरुत्तर ही रही।

देखते-देखते गाड़ी बालामऊ स्टेशन में आकर रुक पड़ी। रात के तीन बज चुके थे। उतरा तो नहीं; किन्तु गाड़ी की झकझोर से सभी जाग उठे। नानी ने उठकर पूछा—क्यों भाई, तुम यहाँ नहीं उतरे ?

मैंने कहा—नानी, जाने भी दो, इस यात्रा में नैमिषारण्य नहीं देखा जा सकेगा।

'खैर, ठीक ही है, इतने परिश्रम के बाद...अरे बैठे-बैठे ही तू खर्राटे भर रही है, क्यों रानी ? अहा, बिलकुल नींद में बेहोश है—दो दिन से खाना-पीना भी तो नहीं हुआ···

निद्रा का ऐसा चमत्कारपूर्ण त्रुटि-रहित अभिनय देखकर हँसी से पेट फूल उठा। रानी यह नहीं जतलाना चाहती थीं कि वह अब तक जगी हुई थीं।

सुबह लखनऊ पहुँचे। पैसेंजर गाड़ी से जाने में बहुत देर होगी, इसलिए लखनऊ में गाड़ी बदलने के लिए फिर उतर पड़े। बहुत समय है—झोला-कम्बल रखकर स्टेशन के रेस्टोराँ में चाय पीकर बाहर आया और एक ताँगा किराया कर शहर घूमने चल दिया। प्रभात के प्रकाश में सुन्दर लखनऊ नगरी उस समय अपनी आँखें खोल रही थी। रास्ता, दुकान, बाजार आदि पार कर नवाबों के महलों के बीच से होती हुई गाड़ी चली। पुराना किला, ऐतिहासिक भग्नावशेष, लाट साहब की कोठी, मैदान, गोमती नदी, उस पार विश्वविद्यालय—सबके ऊपर नजर डालकर दो घण्टे बाद बाजार से एक जोड़ा स्लीपर खरीदकर फिर स्टेशन आ गया। देहरादून एक्सप्रेस आने में उस समय देर नहीं थी। गाड़ी आ गई, माल-असबाब लेकर सभी गाड़ी में चढ़ गये, गाड़ी में चढ़ते वक्त फटे हुए सफेद कैनवेस के जूतों को लखनऊ स्टेशन को उपहार में दे आया। दुस्तर हिमालय के विचित्र इतिहास और अनन्त स्मृति को लेकर अनादृत वे रास्ते के किनारे पड़े रहे। कंकड़-पत्थर में, बर्फ में, वर्षा में उन्हीं जूतों ने भाई की भाँति मेरा साथ दिया था। मेरे पाँवों के नीचे आश्रय लेकर मुझे विपत्ति और दुरवस्था से बचाया था। जूतों के इस जोड़े को रास्ते के ऊपर फेंककर प्रति पदक्षेप में मैंने उसका हृदय दलित किया है। आज मानो वह जोड़ा अपने दो करुण नेत्रों से एकटक बहुत दूर तक मेरी ओर देखता रहा।

धूप तेज होने लगी, खुले प्रान्तर के चारों ओर मानो आग भड़क उठी है। आकाश धूसरवर्ण है, कहीं भी बादलों का निशान नहीं, नदी तालाब सूख गये हैं—गाड़ी खूब तेज चल रही है। देश-देशान्तर पार हो रहे हैं, मानो सब कुछ नया है। सब चीजें मानो पूर्वजन्म की हैं, जन्मान्तर के बाद आने पर कुछ भी नहीं पहिचाना जा रहा है।

फैजाबाद, अयोध्या, शाहगंज पार हो चुके, जौनपुर भी पीछे रह गया—इस वक्त तेज धूप में पुनर्जन्म ग्रहण किये हुए हम तीर्थ-यात्रियों का दल फिर काशी स्टेशन में आ पहुँचा। शेष जेठ की आग चारों ओर बरस रही है।

स्टेशन से ही सबसे विदा ले ली। बस्ती के बीच में आकर हमारा सब सम्पर्क समाप्त हो गया। आज यह अनुभव हुआ कि हम बिलकुल पराये हैं, कहीं भी आत्मीयता का बन्धन नहीं है। पथ का परिचय पथ के समाप्त होने पर खत्म हो गया। भीड़ के बीच में खड़ी होकर रानी कुछ कहती-सी दिखाई दीं, किन्तु सुनने का मौका नहीं मिला उनका कण्ठ भी रुद्ध हो गया। रुद्ध हो गया सदा के लिए!

धूप में निर्जन पथ पर थका हुआ मैं एक इक्के में चल रहा हूँ, इक्का बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा है, घोड़े के गले में रुन-झुन रुन-झुन घुँघरू बज रहे हैं। उत्साहहीन, निरानन्द, निःस्पृह! मैं निद्रित हूँ या जागृत? कहाँ चल रहा हूँ, कौन रास्ते को देखता रह गया है? कौन रास्ते से होकर चला गया? मन की दशा कंगाल की तरह क्यों हो उठी है? इतनी बड़ी तीर्थ-यात्रा में आनन्द क्यों नहीं? मैं चिर परिव्राजक, चिर पथिक जो हूँ! तब क्या सब मिथ्या है, सब अर्थहीन है? परलोक पुनर्जन्म—तब क्या जीवन में विश्वास नहीं, मरण में सांत्वना नहीं?

अर्द्धनिमीलित चक्षुओं से दूर धूप की ज्वाला से आच्छादित आकाश की ओर ताककर बोला—

'कोथा बचे बिधि काँटा फिरिले आपन नीड़े
हे आमार पाखी,
ओरे क्लिष्ट, ओरे क्लान्त, कोथा तोर बाजे व्यथा,
कोथा तोरे राखि?'

●

'सुफल'

अब यह आखिरी बात कहकर इस पुस्तक को समाप्त कर देता हूँ। दिन चले जाते हैं—वर्ष के बाद नया वर्ष आ गया। मानव-समाज के किनारे-किनारे अकेला आ-जा रहा हूँ। वह पथ अभी भी पार न हो सका; उसका अन्त नहीं, विच्छेद नहीं; जिनको मैं अपने पास ही रखना चाहता हूँ उनको छू भी नहीं सकता—बीच में भारी पर्दा है। जिनको दूर फेंक आया था वे दूर चले गये हैं; मन कहता है, तीर्थ-यात्रा तो की है, लेकिन 'सुफल' क्या मिला?—पाया तो कुछ नहीं, किन्तु बहुत कुछ गया है। उस अनन्त पथ के किनारे-किनारे जीवन का बहुत पाथेय फेंक आया हूँ—बन्धुत्व, प्रेम, वात्सल्य, माया और मोह। पुण्य-संचय करने को जाकर और सब संचयों को उत्सर्ग कर आया हूँ। लोभ, लालसा, कामना—ये हाथ बढ़ाकर चलते हैं, किन्तु पहुँच नहीं सकते। विद्वेष-बुद्धि, विषय-लिप्सा, आत्मपरता और दम्भ—ये भी यदि एक-एक कर विदा ले लें तो मनुष्य बचे कैसे?

कहीं भी जाने के लिए पाँव बढ़ाने पर महाप्रस्थान का वही पथ रास्ता रोक लेता है। वही दुर्गम और दुस्तर, वही आदि-अन्त-हीन अविच्छिन्न पथ-रेखा मेरे जागरण में, स्वप्न में, आहार-विहार में, कल्पना में और रचना में, मेरे सब कर्मों में और आराम में साँप की तरह पुकार उठती है, नियति की भाँति वह सदा मुझे खींचती रहती है, रास्ता भुलाकर अपने ही पथ से ले जाती है। उसी पथ-रेखा ने मुझको रिक्त और कङ्गाल बना दिया है, तब भी तृष्णार्त जिह्वा खोलकर, व्याकुल बाहु फैलाकर कहती है, 'और दो, मेरी भूख नहीं मिटी है। चले आओ, दौड़कर चले आओ, अपने सब बन्धनों को तोड़कर चले आओ!'

आज वे कहाँ गये जो मेरे लिए सबकी अपेक्षा अधिक आत्मीय थे? आज अपने सगे-संबन्धियों को नहीं पहिचान सकता; बीच में अपरिचय का भारी पुल है। जिनके पास बैठता हूँ, निकट में रहता हूँ, जिनको दोनों हाथों के बीच पकड़े रहता हूँ, वे भी मानो बहुत दूर हैं, हाँफते-हाँफते दौड़कर भी मानो उनको नहीं पकड़ सकता, वे मानो स्मृति की सीमा से बाहर चले गये हैं। घर से बरामदा, बरामदे से पानी का नल, नल से रसोई घर—ऐसा जान पड़ता है कि एक दूसरे से सौ कोस दूर हैं, मानो अब नहीं चल सकता, उन तक नहीं पहुँच

सकता। आज दीवालों से घिरे क्षुद्र कक्ष के मन्द दीपालोक में बैठकर सोच रहा हूँ कि उस दिन जो संगी-साथी थे उन्होंने भी मेरी तरह इस तरह अभिशप्त 'सुफल' संचय किया है, वे भी क्या मेरी तरह संसार के अकिंचित्कर सुख-दुःखों के मध्य नहीं लौट सकते ? वे भी क्या रास्ते में प्रेतों की तरह घूमते-फिरते हैं ?

अतीत की स्मृति के पीछे है एक सकरुण वेदना, मैंने एक दीर्घ साँस ली। जो दुर्गम के साथी थे वे आज सभी अच्छे लग रहे हैं। वहाँ ऐश्वर्य और सौभाग्य के नाना आडम्बर हैं, वहाँ जबर्दस्त प्रतियोगिता है, हम यहाँ सभी परस्पर विच्छिन्न हैं—किन्तु दुःख के दुस्तर तीर्थ में हमारे बीच कोई अन्तर नहीं—वहाँ राजा और रङ्क भाई-भाई हैं, दुःख के उस नरक-कुण्ड में छूत-अछूत का कोई भेद नहीं है।

बहुत दिनों बाद शाहनगर के एक पथ पर गोपालदा से भेंट हुई।

'गोपालदा कैसे हो ? सब अच्छे तो हैं ?'

'अच्छे, तुम ?'

और उत्तर न दे सका।

'यही मेरी खिलौनों की दुकान है भाई ! थोड़ा तम्बाकू ही सही।'

किन्तु इतना ही, उसके बाद बातचीत समाप्त ही नहीं हो पाती थी, आज उसका कितना उल्टा है, बीच में आज अपार विच्छेद हो गया है, हम फिर एक-दूसरे के निकट नहीं आ सकते। तम्बाकू सुलग रहा था, उन्होंने उसके चक्राकार धुएँ की ओर देखते-देखते एक बार कहा—सोचता हूँ कि इस साल फिर जाऊँगा—फिर वहीं भाग जाऊँ !

मौखिक सौजन्य के बाद दुकान से उठकर चला आया। दिन के बाद दिन चले जाते हैं।

श्याम बाजार के रास्ते जाते हुए एक बार पीछे से कानों में आवाज़ आई—दादा ठाकुर, कैसे हो ?

मुँह फेरकर देखा तो एक स्त्री-जन। चुपचाप देखता रहा।

'नहीं पहिचान पाये, मैं वही भुवनदासी हूँ।' साष्टांग प्रणाम कर वह फिर बोली—आपकी दया का आग्रह कभी भूल सकती हूँ, आपके ही कारण तो मा-गोसाईं के हाड़ घर को वापस लौट सके ! सेठ के बाग में कभी अपने चरणों की धूल माथे पर रखने का अवसर देना, दादा ठाकुर ! पास ही है, उल्टाडिंगी में।

और इधर-उधर की चर्चा के बाद उसने विदा ली। यह उस दिन मेरी दृष्टि में अत्यन्त विचित्र, रहस्यमय मानव-प्राणी, अपार्थिव और

अलौकिक, युग-युगान्तर के जन्म-मृत्यु चक्र से पार हुआ तीर्थ-यात्री, दूर आकाश के किसी ऐसे ग्रहलोक के जीव के समान जिसका अभी वैज्ञानिकों ने आविष्कार ही नहीं किया हो, . दिखाई दी—शहरी सभ्यता के कोलाहल के मध्य खड़े होकर इसको पहिचानना बहुत ही कठिन है। यदि हिमालय के पर्वत-शिखरों, बरफ की नदियों के किनारे, घने वनों की निःस्तब्धता, प्राणान्तकर पथ के पीड़न में इनको फिर से न देखा जाय तो इनको पूर्ण रूप से नहीं पहचाना जा सकता।

महानगर के राजपथ पर सरपट चला जाता हूँ। रास्ते में लोगों की भीड़ मिलती है, बोलने की इच्छा होती है, मुझको क्या तुम लोग नहीं पहिचानते, मैं वही तो हूँ ? मुझमें क्या परिवर्तन हो गया है ? क्यों सभी को नहीं समझ सकता। यह हृदय कठोर क्यों हो गया ?

कहानी लिखता हूँ, उपन्यास लिखता हूँ, किन्तु उनके भीतर से छिपकर मानव-जीवन का यह प्रश्न बोल उठता है—जीवन क्या साहित्य से बड़ा नहीं है ? क्या मानव-यात्री स्वर्ग-राज्य की प्रतिष्ठा की कल्पना में एक दिन तीर्थ-यात्रा नहीं करेंगे ? क्या परम आशा की वाणी उनके कानों में नहीं गूँजेगी ? उच्च जीवन, निष्पाप प्रेम, अकलङ्क मनुष्यत्व, दाक्षिण्यमय जीवप्रीति—ये क्या उस अलौकिक तीर्थ-पथ के पाथेय नहीं बनेंगे ?

गेरुए वस्त्र तो छूट गये हैं; किन्तु वैराग्य छूटना नहीं चाहता। वह वैराग्य महाप्रस्थान के पथ की धूल से धूसरित है। वह वैराग्य इस लोक, परलोक, पुनर्जन्म सभी प्रश्नों के ऊपर उठ गया है। उसके चारों ओर ईश्वर नहीं, सृष्टि नहीं, जन्म-जरा-मृत्यु नहीं; उसका पथ तो चिररात्रि-चिरदिन पार कर लोक-लोकान्तर की ओर चला गया है। वह मृत्युलोक को पार कर जायगा, ग्रह-नक्षत्र-सौर-जगत के पार चला जायगा, महाकाश के सीमाहीन प्रकाश-समुद्र को पार कर कभी वह स्वर्गलोक पहुँच जायेगा।

'जो किछू पेयेछि, जाहा किछू गेलो चुके
चलिते-चलिते पिछे या रहिलो पड़े
जे मणि दुलिल जे व्यथा बिंधिल बुके
छाया हये जाहा मिलाय दिगन्तरे;
जीवनेर धन किछूई जाबे ना फेला,
धूलाय तादेर जत होक अवहेला
पूर्णेर पद-परश तादेर परे।'

इस पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ

'तुम्हारे यात्रा-वर्णन में यह बात बराबर दिखाई देती है कि तीर्थ-यात्रा-पथ में तीर्थ-देवतागण तुम्हारे चित्त को आच्छन्न नहीं कर सके और सहयात्रियों के प्रति तुम्हारा मुक्त मन सदा खुला रहा।'

—शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

'आपने तीर्थ-भ्रमण का जो एक वास्तविक चित्र आँका है, मालूम होता है इसी के फल-स्वरूप आपका यात्रा-वृत्तान्त रससाहित्य में रूपान्तरित हो गया है।...'राधारानी' के लिए मुझे सचमुच कष्ट हुआ है और आपके ऊपर क्रोध आ रहा है—आपकी हृदयहीनता के लिए...

'रानी' का जो चित्र आपने खींचा है वह जैसा सुन्दर है, वैसा ही हृदयग्राही भी बना है। पुस्तक समाप्त करने पर, और पाठकों की तरह मुझे भी रानी के संबन्ध में और भी जानने की इच्छा हुई...'

—सुभाषचन्द्र बोस

'हम हिन्दुओं के लिए हिमालय केवल एक विराट् पर्वत नहीं है, उसके साथ एक विराट् idea है और विराट् idea का आकर्षण एक बड़े चुम्बक के आकर्षण के समान है।

यह पुस्तक कहानी भी है। और यह कहानी है उनके सहयात्रियों की कहानी।... लेखक ने थोड़े से ही शब्दों में इनके चित्र खींचे हैं, फिर भी इनमें से प्रत्येक जीवित मनुष्य हो उठे हैं।

...इस 'कहानी' की केन्द्र है रानी जो साहित्य की एक अपूर्व सृष्टि है।...रानी के अन्तर में हमें वही निर्मल उदार आकाश दिखाई देता है जो महाप्रस्थान के पथ पर, यात्रियों के चारों ओर विराजमान था।'

—प्रमथ चौधरी

'यात्रा संबन्धी अन्य पुस्तकों के समान यह पुस्तक नहीं है। सच पूछिए तो यह एक ऐसे बेचैन नवयुवक के निर्माणकारी मस्तिष्क की पठनीय कृति है जिसको 'अज्ञात का आकर्षण' हिमालय को खींच ले गया।...

बँगला साहित्याकाश में श्री सान्याल एक उदीयमान सितारे हैं और यह पुस्तक निश्चय ही उन्हें प्रसिद्ध आधुनिक लेखकों की श्रेणी में रखती है।...पुस्तक की भाषा और शैली सजीव है जो लेखक की अपनी है। प्रकृति की विभिन्न छटाओं का इन्होंने अद्भुत चित्रण किया है। पाठक पढ़ते-पढ़ते नहीं अघाता।...

पुस्तक की एक बड़ी विशेषता इसका कथानक—आधार है।...थोड़े से ही शब्दों में चरित्र-चित्रण करने में लेखक ने कमाल हासिल किया है।...राधारानी जो स्नेह, ममता, दया तथा दाक्षिण्य की प्रतिमूर्ति है, सुन्दर चित्र है।...दूसरा चित्र जो पुस्तक समाप्त करने पर भी हमारी आँखों के आगे से नहीं हटता, रानी है। यह सुसंस्कृत, प्राणपूर्ण विदुषी विद्युत् धारा से भरे हुए एक तार के समान इस यात्रा-वर्णन को प्रबल जीवन-स्पन्दन से भर देती है।...वास्तव में, वह बँगला साहित्य में अत्यधिक आकर्षक तथा आश्चर्यजनक चरित्रों में से एक है।'

—'अमृतबाजार-पत्रिका'